# प्राचीन साहित्य

रवीन्द्रनाथ ठाकुर

हिन्दी-ग्रन्थ-रत्नाकरका ५२ वाँ ग्रन्थ

# प्राचीन साहित्य

Prâchin Sâhityá

( साहित्याचार्य रवीन्द्रनाथ ठाकुरकी बंगला निबन्धावलीका अनुवाद )

अनुवादकर्त्ता—

पं० रामदहिन मिश्र, काव्यतीर्थ

R.M. Mishra

प्रकाशक—

हिन्दी-ग्रन्थ-रत्नाकर कार्यालय

मूल्य नौ आने

# निवेदन

आज हम अपने सहृदय पाठकोंके सम्मुख कविवर रवीन्द्रनाथकी एक और निबन्धावली उपस्थित कर रहे हैं। आशा है कि अन्य रचनाओंके समान यह भी विद्वानोंके द्वारा श्रद्धापूर्वक पढ़ी जायगी।

इसमें सात निबन्ध हैं और उनमें प्राचीन भारतकी अनेक प्रसिद्ध रचनाओंकी आलोचनाएँ की गई हैं। यह कहनेकी आवश्यकता नहीं कि ये सभी आलोचनाएँ अपूर्व और हृदयस्पर्शिनी हैं। कवियोंके सच्चे परीक्षक कवि ही हो सकते हैं। भला इस बातका अनुभव कवियोंको छोड़कर और किसे हो सकता है कि कवियोंके हृदयमें कविता किस प्रकार गढ़ी जाती है? और जिसे यह अनुभव नहीं है, वह कविताकी आलोचना ही क्या करेगा?

रवीन्द्र बाबू जगद्विख्यात कवि हैं। उनकी प्रतिभा सर्वतोमुखी है। अतएव वे काव्योंकी आलोचनाके सर्वथैव अधिकारी हैं। इसे हमें अपना सौभाग्य समझना चाहिए कि इस आधुनिक महाकविने प्राचीन महाकवियोंकी रचनाओंका रहस्य प्रकट करके प्राचीन साहित्यकी ओरसे शिथिल होती हुई हमारी श्रद्धाको नवजीवन प्रदान किया है।

प्राचीन साहित्यके विद्यार्थियोंका इस निबन्धावलीसे बहुत उपकार होगा और वे अनेक दृष्टियोंसे काव्योंकी आलोचना करना सीखेंगे।

बम्बई
आषाढ कृष्ण ११,
सं० १९८० वि०

निवेदक—
नाथूराम प्रेमी

# सूची

# प्राचीन साहित्य

## रामायण

[ श्रीयुत दीनेशचन्द्र सेनकी ‘ रामायणी कथा ’ की भूमिका ]

साधारणत काव्यके दो विभाग किये जा सकते हैं। एक तो वह जिसमें केवल कविकी बात होती है और दूसरा वह जिसमें किसी बड़े सम्प्रदाय या समाजकी बात होती है।

केवल कविकी बात कहनेसे यह न समझना चाहिए कि वह बात ऐसी है जो औरोंकी समझमें नहीं आ सकती; ऐसा होनेसे तो उसे एक प्रकारका प्रलाप ही कहा जायगा। कविकी बातका तात्पर्य उसकी सामर्थ्यसे है जिसमें उसके सुख-दुःख, उसकी कल्पना और उसके जीवनकी अभिज्ञताके अन्दरसे, संसारके सारे मनुष्योंके चिरन्तन हृदयावेग और जीवनकी मार्मिक बातें आप ही आप प्रतिध्वनित हो उठती हैं।

जैसे ये एक प्रकारके कवि हैं, वैसे ही दूसरी श्रेणीके कवि वे हैं जिनकी रचनाके अन्तस्तलसे एक सारा देश, एक सारा युग, अपने हृदयको और अपनी अभिज्ञताको प्रकट करके, उस रचनाको सदाके लिए समादरणीय सामग्री बना देता है।

इस दूसरी श्रेणीके कवि ही महाकवि कहे जाते हैं। सारे देशों और सारी जातियोंकी सरस्वती इनका आश्रय लेती है। ये जो रचना करते हैं, वह किसी व्यक्तिविशेषकी लिखी मालूम नहीं पड़ती। कहनेका

अभिप्राय यह कि उनकी उक्तियाँ देशमात्र और जातिमात्रको मान्य होती हैं। उनकी रचना उस बड़े वृक्षकी सी मालूम होती है जो देशके हृदयरूपी भूतलसे उत्पन्न होकर उस देशभरको आश्रयरूपी छाया देता हुआ खड़ा हो। शकुन्तला और कुमारसम्भवमें कालिदासकी कलमका कौशल दिखलाई पड़ता है; किन्तु रामायण और महाभारत, हिमालय और गंगाकी भाँति ही, भारतके मालूम होते हैं—व्यास और वाल्मीकि तो उपलक्ष्य मात्र हैं। भावार्थ यह कि इनके पढ़नेसे भारत झलकने लगता है, व्यास और वाल्मीकि नहीं।

वस्तुतः व्यास और वाल्मीकि किसीका नाम नहीं था; नामकरण मात्र ही इनका उद्देश्य है। इतने महान् दो ग्रन्थ, समस्त भारतव्यापी दो काव्य, अपने रचयिता कवियोंके नाम लुप्त कर बैठे हैं। कवि अपने काव्योंके अंदर ही लुप्त हो गये हैं। सारांश यह कि आज समस्त भारतवासी रामायण और महाभारतके नाम लेनेके सिवा उनके रचयिता वाल्मीकि और व्यासके नाम नहीं लेते।

हमारे देशमें जैसे रामायण और महाभारत हैं, वैसे ही ग्रीसमें इलियड था। वह सारे ग्रीसके हृदय-कमलसे उत्पन्न हुआ था और उसी हृदय-कमलमें विराजमान था। कवि होमरने अपने देश और कालको अपना भाषारूपी कंठ दिया था—देशकालकी अवस्थाको भाषा-निबद्ध किया था। ऐसे महाकवियोंके वाक्य झरनोंके समान अपने अपने देशके अन्तस्तलसे निकलकर बहुत दिनोंसे उसे आप्लावित करते आये हैं।

किसी आधुनिक काव्यमें ऐसी व्यापकता नहीं देखी जाती। मिल्टनके ‘ पॅरेडाइज लॉस्ट ’ में भाषाका गाम्भीर्य, छन्दोंका औचित्य, रसोंका परिपाक कितना ही क्यों न हो, पर वह देशका धन नहीं है; उससे केवल पुस्तकालयकी ही शोभा हो सकती है।

अतएव कुछ प्राचीन काव्योंको एक श्रेणीमें रखकर यदि उनका नामकरण किया जाय, तो वह नाम 'महाकाव्य' के सिवा और क्या होगा? ये महाकाव्य प्राचीन कालके देवताओं और दानवोंके समान ही विशालकाय थे। अब इनकी जाति लुप्त हो गई है। सारांश यह कि अब संसार भरमें कहीं भी महाकाव्योंका अवतार नहीं होता।

प्राचीन आर्य-सभ्यताकी एक धारा यूरोपमें और दूसरी भारतमें प्रवाहित हुई है। यूरोपकी धारा दो महाकाव्योंमें और भारतकी धारा भी दो ही महाकाव्योंमें अपने अपने देशोंके वृत्तान्तों और संगीतोंको सिञ्चित करती आ रही है।

हम लोग विदेशी हैं, इससे हम निश्चयसे नहीं कह सकते कि ग्रीसका प्राकृतिक चित्र पूर्णतः उसके काव्योंमें उतरा है कि नहीं; पर रामायण और महाभारतमें भारतवर्षका सर्वाङ्गसम्पन्न चित्र उतरनेमें कुछ भी कोर-कसर नहीं रही है।

अतएव शताब्दियोंपर शताब्दियाँ बीतती चली जाती हैं किन्तु रामायण और महाभारतका स्रोत भारतमें नामको भी शुष्क नहीं होता। प्रति दिन गाँव गाँव, घर घर, उनका पाठ होता रहता है। क्या बाजारकी दूकानोंपर और क्या राजाके दरवाजोंपर; सर्वत्र उनका समान भावसे आदर होता है। वे दोनों महाकवि धन्य हैं, जिनके नाम तो कालके महाप्रान्तरमें लुप्त हो गये हैं; किन्तु जिनकी वाणी आज भी करोड़ों नर-नारियोंके द्वार-द्वारपर अपनी निरन्तर प्रवहमान धाराओंसे शक्ति और शान्ति पहुँचाती फिरती है और सैकड़ों प्राचीन शताब्दियोंकी उपजाऊ मिट्टीको दिनोंदिन बहा लाकर भारतकी चित्त-भूमिको उर्वरा बनाये हुए है।

ऐसी अवस्थामें रामायण और महाभारतको केवल महाकाव्य कहनेसे

ही काम न चलेगा। वे इतिहास भी हैं; किन्तु घटनावलियोंके नहीं। क्योंकि वैसे इतिहास किसी विशेष समयकी विशेष घटनाके आधारपर खड़े होते हैं; पर रामायण या महाभारत भारतवर्षके पुराने इतिहास हैं। अन्यान्य इतिहास समय समयपर परिवर्तित हो गये हैं, पर रामायण और महाभारतमें परिवर्तन नहीं हुआ। भारतवर्षकी जो साधना, जो आराधना और जो संकल्प हैं, उन्हींका इतिहास इन दोनों विशाल-काय काव्य-प्रासादोंके भीतर चिरकालिक सिंहासनपर विराजमान है।

अतएव रामायण और महाभारतकी आलोचना अन्यान्य काव्योंकी आलोचनाके आदर्शसे स्वतन्त्र है। रामका चरित्र उच्च है या नीच, लक्ष्मणका चरित्र हमें अच्छा मालूम होता है या बुरा, इतनी ही आलोचना यथेष्ट नहीं समझी जायगी। संयत होकर श्रद्धाके साथ विचार करना होगा कि समस्त भारत हजारों वर्षसे इन पुरुषोंको किस दृष्टिसे देखता आ रहा है।

रामायणमें भारतवर्ष क्या कहता है, रामायणमें भारतवर्षने किस आदर्शको महान् स्वीकार किया है, इसी विषयका इस समय हमें सविनय विचार करना चाहिए।

सर्वसाधारणकी यह धारणा है कि वीर-रस-प्रधान काव्य ही 'ऍपिक, कहलाते हैं। इसका कारण यह है कि जिस देशमें, जिस समय वीररसके गौरवको ही प्रधानता मिली है, उस देशमें, उस समय, स्वभावतः ही ऍपिक वीररस-प्रधान हो गया है। रामायणमें भी युद्ध-व्यापार यथेष्ट है; रामका बाहुबल भी सामान्य नहीं है, तथापि रामायणमें जो रस सर्वापेक्षा प्रधान है, वह वीररस नहीं है। उसमें बाहुबलकी विजय-दुन्दुभी नहीं बजी है। युद्ध-घटना उसके वर्णनका मुख्य विषय नहीं है।

देवताकी अवतार-लीला अवलम्बन करके यह काव्य बनाया गया हो, सो भी नहीं है। कवि वाल्मीकिके निकट राम अवतार नहीं थे, मनुष्य ही थे, इस बातको पण्डित-मण्डली मण्डित करेगी। इस भूमिकामें पाण्डित्य प्रकाश करनेका अवकाश नहीं है। यहाँ संक्षेपमें सिर्फ यही बात कही जा सकती है कि कवि यदि रामायणमें नर-चरित्रका वर्णन न करके देव-चरित्रका वर्णन करते, तो रामायणके गौरवका ह्रास हो जाता; महत्त्वमें न्यूनता आ जाती। इतना ही नहीं, वह काव्यांशमें भी क्षतिग्रस्त हो जाता। मनुष्य होनेसे ही राम-चरित्र इतना महत्त्व-पूर्ण है।

बालकाण्डके प्रथम सर्गमें वाल्मीकिने अपने काव्यके उपयुक्त नायकके अनुसन्धानमें सारे गुणोंका उल्लेख करके नारदसे पूछा—

**" समग्रा रूपिणी लक्ष्मीः कमेकं संश्रिता नरं। "**

मूर्त्तिमती समग्र लक्ष्मीने किस एकमात्र मनुष्यका आश्रय लिया है? तब नारदने कहा—

**" देवेष्वपि न पश्यामि कश्चिदेभिर्गुणैर्युतम्।**
**श्रूयतां तु गुणैरेभिर्यो युक्तो नरचन्द्रमाः॥ "**

इन गुणोंसे युक्त पुरुष तो देवताओंमें भी नहीं है। हाँ, जो नर-चन्द्र इन गुणोंसे पूर्ण हैं, उनकी बात सुनो।

रामायणमें उसी नर-चन्द्रका वृत्तान्त हैं, देवताका नहीं। रामायणमें देवता अपनेको हीन बनाकर मनुष्य नहीं हुआ है, बल्कि मनुष्य ही अपने गुणोंसे उच्च होकर देवता हो गया है।

मनुष्यके चूडान्त आदर्शकी स्थापनाके लिए ही कविने इस महाकाव्यकी रचना की है और उस दिनसे आज तक मनुष्यके उस आदर्श-चरित्र-वर्णनका पाठ भारतवासी अत्यन्त आग्रह और परम समादरके साथ करते आ रहे हैं।

रामायणका प्रधान विशेषत्व यही है कि उसमें घरकी ही बातें अत्यन्त विस्तृत रूपसे वर्णित हुई हैं। पिता-पुत्रमें, भाई-भाईमें, स्वामी-स्त्रीमें जो धर्म्म-बन्धन है, जो प्रीति और भक्तिका सम्बन्ध है, उसको रामायणने इतना महत् बना दिया है कि वह बहुत ही सहजमें महाकाव्यके उपयुक्त हो गया है। साधारणतः महाकाव्योंमें देश-विजय, शत्रु-संहार, दो प्रबल प्रतिद्वन्द्वियोंके प्रचण्ड घात-प्रतिघात, आदि सारे व्यापार आन्दोलन और उद्दीपनके संचारक होते हैं। किन्तु रामायणकी महिमा राम-रावणके युद्धसे नहीं है; यह युद्ध-घटना राम और सीताकी दाम्पत्य-प्रीतिको उज्ज्वल बनानेके लिए उपलक्ष्य मात्र है। पिताके प्रति पुत्रकी वश्यता, भाईके लिए भाईका आत्मत्याग, पति-पत्नीमें परस्परकी निष्ठा और प्रजाके प्रति राजाका कर्तव्य कहाँ तक पहुँच सकता है, यही रामायणमें दिखलाया गया है। इस प्रकार प्रधानतः व्यक्ति विशेषके गृह-चरित्र किसी भी देशके महाकाव्यमें इस प्रकार वर्णनीय विषय नहीं समझे गये हैं।

इससे केवल कविका ही परिचय नहीं होता, भारतवर्षका भी परिचय होता है। भारतमें गृह और गृह-धर्मका कितना महत्त्व है, यह इसीसे समझा जा सकता है। हमारे देशमें गार्हस्थ्य-धर्म सबसे ऊँचा था, इस बातको यह काव्य प्रमाणित करता है। गृहस्थाश्रम हमारे निजके सुख और सुविधाके लिए नहीं था, वह सारे समाजको धारण किये रहता था और मनुष्यको यथार्थतः मनुष्य बनाये रखता था। गृहाश्रम भारतीय आर्य-समाजकी भित्ति है और रामायण उसीका महाकाव्य। रामायणने उस गृहाश्रमको विसदृश अवस्थामें डालकर वनवासके दुःखसे गौरवान्वित किया है। मन्थरा और कैकेयीके कुटिल कुचक्रके कठिन आघातसे अयोध्याका राजगृह दुरवस्थापन्न हो गया था; तथापि गृह-धर्म ज्योंका त्यों दृढ़ बना रहा था और इसी गृह-धर्मकी दुर्भेद्य दृढ़ताकी घोषणा

रामायण कर रही है। रामायणने वाहुबलको नहीं, जिगीषाको नहीं, राष्ट्र-गौरवको नहीं, केवल शान्त-रसास्पद गृहधर्मको ही, करुणाके अश्रु-जलसे अभिषिक्त कर, महान् शौर्य-वीर्य्यके ऊपर प्रतिष्ठित किया है।

अश्रद्धालु पाठक कह सकते हैं कि ऐसी दशामें चरित्र-वर्णन अतिशयोक्तिसे परिपूर्ण हो जाता है। यथार्थताकी सीमा कहाँ तक है और कल्पनाकी कौनसी सीमा है, जिसके लंघनसे काव्य-कला अतिशयोक्तिमें परिणत हो जाती है; इसकी मीमांसा हो ही नहीं सकती। विदेशी समालोचकोंने यह जो कहा है कि रामायणमें चरित्र-वर्णन अप्राकृत और अतिरञ्जित हो गया है, उनको यह उत्तर दिया जा सकता है कि प्रकृति-भेदसे जो एकके निकट अप्राकृत है, वही दूसरेके निकट प्राकृत है। भारतवर्ष नहीं देखता कि रामायणमें अप्राकृतकी अधिकता है।

जहाँका जो आदर्श प्रचलित है, वह यदि अतिरंजित कर दिया जाय, तो वहाँवालोंको वह अरुचिकर हो जायगा, वे उस आदर्शको ग्राह्य ही नहीं कर सकेंगे। हम अपने श्रुतियन्त्रों या कानोंमें शब्द-तरङ्गोंके जितने आघात उपलब्ध कर सकते हैं, उनकी एक सीमा है। उस सीमाके ऊपरके सप्तकमें सुर चढ़ानेसे हमारे कान उसे ग्रहण ही नहीं कर सकते; वह बरदाश्तके बाहर हो जाता है। काव्यमें चरित्र और भावोंकी उद्भावनाके संबंधमें भी यही बात घटती है।

ऊपरकी बात यदि सत्य है, तो हजारों वर्षोंमें यह प्रमाणित हो चुका है कि रामायणकी कथाको भारतवर्ष किसी भी अंशमें अतियोक्तिपूर्ण नहीं समझता। इस रामायणकी कथासे भारतवर्षके जनसाधारण, आबाल-वृद्ध-वनिता केवल शिक्षा ही नहीं पाते, आनन्द भी पाते हैं; केवल इसे शिरोधार्य ही नहीं करते, हृदयमें भी रखते हैं; और यह उनका केवल धर्म-शास्त्र ही नहीं है, काव्य भी है।

राम हमारे लिए देवता-स्वरूप हैं; साथ ही मनुष्य-स्वरूप भी हैं। यह महाग्रन्थ हमारी भक्तिका और साथ ही प्रीतिका भी पात्र हुआ है। ऐसा होना कभी सम्भव नहीं था, यदि रामायणका कवित्व भारतके लिए केवल सुदूर कल्पना-लोककी ही सामग्री होता; हमारी संसार-सीमाके भीतर न होता।

ऐसे ग्रन्थको यदि विदेशी समालोचक अपने काव्य-विचारोंके आदर्शानुसार अप्राकृत कहें, तो उनके देशके साथ तुलना करनेमें भारतवर्षकी एक विशेषता और भी प्रस्फुटित होती है। अर्थात् जो भारतवर्ष चाहता है, रामायणमें उसे वही मिला है।

रामायण और महाभारतको मैं विशेषतः इसी भावसे देखता हूँ। इनके सरल छोटे छोटे अनुष्टुप् छन्दोंमें हजारों वर्षोंके भारतका हृत्पिण्ड स्पन्दित हो रहा है।

मित्रवर श्रीयुत दीनेशचन्द्र सेन महाशयने जब स्वलिखित रामायण-चरित्रकी आलोचनाके लिए मुझसे भूमिका लिख देनेका अनुरोध किया, तब अस्वस्थता और समयाभाव होनेपर भी मैं उनके अनुरोधको अस्वीकार न कर सका। कवि-कल्पनाको भक्तकी भाषामें दुहरा करके उन्होंने अपनी भक्तिको चरितार्थ कर लिया है। हमारे विचारसे ऐसी भक्ति और पूजाकी आवेगमिश्रित व्याख्या ही रामायणकी यथार्थ समालोचना है। इसी उपायसे एक हृदयकी भक्ति दूसरे हृदयमें संचारित होती है। हमारी आजकलकी समालोचना बाज़ार-भाव करना है, क्योंकि साहित्य अब बाजारकी चीज हो गई है। पीछेसे कहीं मुँहकी न खानी पड़े, इसलिए चतुर जाँचनेवालों—पारखियोंका आश्रय ग्रहण किया जाता है। इस जाँच-पड़तालके व्यापारकी उपयोगिता अवश्य है; किन्तु, तब भी मैं यही कहूँगा कि यथार्थ समालोचना पूजा ही है और समालोचक

पुजारी या पुरोहित है। वह अपने अथवा सर्वसाधारणके भक्ति-विगलित विस्मयको ही प्रकाशित करता है।

भक्त दीनेशचन्द्रने उस पूजा-मन्दिरके प्राङ्गणमें खड़े होकर आरती आरम्भ कर दी है। उन्होंने अचानक ही मुझे घंटा बजानेका भार सौंप दिया है। मैं भी एक बगलमें खड़ा होकर यह काम कर रहा हूँ। मैं अधिक आडम्बर करके उनकी पूजाको प्रच्छन्न करना नहीं चाहता। मैं केवल यही जताना चाहता हूँ कि पाठकगण वाल्मीकिके राम-चरितको केवल काव्य समझकर ही न देखें, उसे समस्त भारतवर्षका रामायण समझें। ऐसा होनेसे ही वे रामायणके द्वारा भारतको और भारतके द्वारा रामायणको यथार्थतः जान सकेंगे। पाठकोंको यह खयाल रखना होगा कि यह कोई ऐतिहासिक गौरव-कथा नहीं है, किन्तु भारतने जिस आदर्श-परिपूर्ण मानव-चरित्रको सुनना चाहा था, आज तक वह उसे ही अविरत आनन्दके साथ सुनता आ रहा है। भारतने यह कभी नहीं माना कि इसमें जो बातें लिखी गई हैं, वह बढ़ा-चढ़ाकर लिखी गई हैं; और न उसने कभी उसे केवल काव्य-कथा ही कहा है। भारतवासियोंके लिए घरके लोग भी उतने सच्चे नहीं, जितने सच्चे राम, लक्ष्मण और सीता हैं।

परिपूर्णताकी ओर भारतवर्षकी एक प्राणोपम आकांक्षा, एक बड़ी गहरी ममता, है। भारतने, वास्तविक सत्यकी सीमाके परे कहकर, इसका कभी अनादर नहीं किया, अविश्वास नहीं किया। इसको भी उसने यथार्थ सत्य माना है और इससे उसने आनन्द भी उठाया है। उसी परिपूर्णताकी आकांक्षाको ही उद्बोधित और तृप्त करके रामायणके कविने भारतके भक्त-हृदयोंको सदाके लिए मोल ले लिया है।

जो जाति खण्ड-सत्यको प्रधानता देती है, जो लोग वास्तविक सत्यका अनुसरण करनेमें क्लान्तिका अनुभव नहीं करते, जो काव्यको प्रकृतिका दर्पण मात्र समझते हैं, वे संसारमें समयके उपयोगी अनेकों कार्य्य करते हैं। वे विशेष धन्यवादके भाजन हैं; मानव-जाति उनके निकट ऋणी है। दूसरी ओर, जिन लोगोंने यह कहा है कि "भूमैव सुखं भूमात्वेव विजिज्ञासितव्यः" ( पूर्णता ही सुख है, उसीको जाननेका प्रयत्न करना चाहिए ) और परिपूर्ण परिणाममें ही समस्त खण्डताकी सुषमाको, समस्त विरोधोंकी शान्तिको पानेके लिए साधना की है, उनका ऋण भी किसी कालमें परिशोधित नहीं हो सकता। उनका परिचय विलुप्त होनेसे, उनके उपदेश भूल जानेसे, मानव-सभ्यता अपने धूलि-धूम-समाकीर्ण कारखानेके जन-समूहमें, निश्वास-दूषित वायुसे घिरे हुए शून्यमें, पल पलपर पीड़ित और कृश होकर मरने लगेगी। रामायण उन्हीं अखण्ड-अमृत-पिपासुओंका चिरपरिचय धारण किये है। इसमें जो सौभ्रात्र, जो सत्यपरता, जो पातिव्रत्य, जो प्रभु-भक्ति वर्णित है, उसकी ओर यदि हम सरल श्रद्धा और आन्तरिक भक्ति रख सकें, तो हमारे कारखानेकी खिड़कियोंमें, महासमुद्रकी निर्मल वायु प्रवेश कर सकती है।

पौष ५, सन् १३१० ( बंगला )

# धम्मपदं

[ धम्मपदं, अर्थात् ‘ धम्मपद, ’ नामक पाली ग्रन्थका मूल, अन्वय, संस्कृत-व्याख्या और बंगानुवाद । श्रीचारुचन्द्रवसुद्वारा सम्पादित, प्रणीत और प्रकाशित ग्रन्थकी समालोचना । ]

संसारमें जो दो चार प्रसिद्ध और श्रेष्ठ धर्मग्रन्थ वर्तमान हैं, उनमें एक ‘ धम्मपद ’ भी है । बौद्धोंके विचारसे ‘ धम्मपद ’ की सारी बातें साक्षात् बुद्धदेवकी कही हुई हैं और उनकी मृत्युके कुछ दिन बीतते न बीतते ग्रन्थरूपमें उनका संकलन हो गया था ।

इस ग्रन्थमें जितने उपदेश श्लोकबद्ध हैं, वे सब बुद्धदेवकी रचना हैं या नहीं, यह निश्चित रूपसे नहीं कहा जा सकता । हाँ, यह बात अवश्य माननी पड़ेगी कि ये सारे उपदेश पहलेसे ही भारतवर्षमें चलते आ रहे थे और बुद्धदेवके समयमें भी प्रचलित थे । इन श्लोकोंमें बहुतसे ऐसे हैं जो महाभारत, पञ्चतन्त्र, मनुसंहिता आदिके श्लोकोंसे बिलकुल मिलते जुलते हैं । इस बातको पण्डित सतीशचन्द्र विद्याभूषणने इसी ( बङ्गानुवादवाली ) पुस्तककी भूमिकामें प्रमाणित किया है । इस दशामें किसने किससे अपना ग्रन्थ संकलित किया, इस बातपर तर्क करना व्यर्थ है । ऐसे भावोंका प्रवाह बहुत दिनोंसे भारतवर्षमें प्रवाहित होता चला आ रहा है । हमारा यह देश सदासे इसी प्रकार, ऐसे ही चिन्ता करता चला आया है । बुद्धदेवने इन्हीं भावोंको चारों ओरसे एकत्र कर, सुसंबद्ध कर, और अपना बनाकर, चिरस्थायी कर दिया है; जो भाव

बिखरे हुए थे, उन्हीं भावोंको एक सूत्रमें गूँथकर सबके व्यवहार-योग्य बना दिया है। इसीसे भारतवर्षने जैसे भगवद्गीतामें अपनेको प्रकट किया है; गीताके उपदेशकने जैसे भारतके विचारोंको, भावोंको एक जगह संग्रह कर दिया है; वैसे ही धम्मपदमें भी भारतके चित्तका एक चित्र चित्रित हुआ है। यही कारण है कि क्या गीतामें और क्या धम्म, पदमें, ऐसी अनेक बातें हैं, जो भारतके अन्यान्य ग्रन्थोंमें भी पाई जाती हैं और अनेकोंमें उनका प्रतिबिम्ब देख पड़ता है।

जो लोग धर्मग्रन्थको धर्मग्रन्थकी भाँति ही अपने व्यवहारमें लावेंगे, उनको उससे क्या फल मिलेगा, इसकी आलोचना यहाँ नहीं की जाती। यहाँ हम इस विषयको इतिहासकी दृष्टिसे देखना चाहते हैं, इसलिए धम्मपदसे संसारकी क्या भलाई हुई है, इस ओर दृष्टि न देकर भारतवर्षके साथ उसका क्या सम्पर्क है, इसी विषयको विशेषतासे उठाते हैं।

जैसे प्रत्येक मनुष्यका जीवन-चरित्र एक सा नहीं होता, उसी भाँति प्रत्येक देशका इतिहास भी एकसा नहीं हो सकता। यह बात हम पहले भी कहीं दूसरी जगह कह चुके हैं। इससे हम जब यह कहते हैं कि भारतवर्षके इतिहासकी सामग्री नहीं मिलती, तो यह समझना चाहिए कि भारतवर्षमें यूरोपियन ढंगके इतिहासकी सामग्री नहीं मिलती; अर्थात् भारतवर्षका इतिहास राष्ट्रीय इतिहास नहीं है। भारतवर्षमें एक या एका-धिक जातियाँ कभी एक साथ मिलकर एक राष्ट्रकी स्थापनाके लिए सन्नद्ध नहीं हुईं। इससे, इस देशमें कौन, कब, राजा हुआ, कितने दिनों तक उसने राज्य चलाया; इन बातोंको लिख रखनेकी उत्कण्ठा देशके मनमें कभी पैदा ही नहीं हुई।

भारतवर्ष यदि राष्ट्रके संघटनमें प्रवृत्त होता, तो अवश्य ही यहाँ इति-

हासके साधन अधिकतासे मिल सकते और आधुनिक ऐतिहासिकोंका काम बहुत सुगम हो जाता। किन्तु इससे यह नहीं माना जा सकता कि भारतने अपने अतीत और भविष्यको ऐक्य-सूत्रमें गूँथा ही नहीं। वह ऐक्यसूत्र सूक्ष्म है, पर उसका प्रभाव कम नहीं है। वह स्थूल दृष्टिसे भले ही दिखलाई न पड़े, पर आजतक हम लोगोंको उसीने एकत्र बाँध रक्खा है; विच्छिन्न और विक्षिप्त नहीं होने दिया है। इसने एक प्रकारकी वैचित्र्यहीन समता सब जगह स्थापित कर रक्खी है। केवल यही नहीं है, किन्तु हमारी सारी विचित्रताओं और विषमताओंके भीतर ही भीतर उसने मूलमें एक अप्रत्यक्ष संयोग-सूत्र भी पिरो रक्खा है। इसीसे महाभारतके समयके भारत और वर्तमान समयके भारतमें अनेक बड़े बड़े विषयोंमें भेद होते हुए भी दोनोंके बीचका नाड़ी-योग विच्छिन्न नहीं हुआ है।

यह योग ही भारतवर्षके लिए सर्वापेक्षा सत्य है और इसी योगका इतिहास भारतवर्षका यथार्थ इतिहास है। यह योग क्या लेकर हुआ है? पहले ही कहा जा चुका है कि राष्ट्रीय स्वार्थको लेकर यह योग नहीं है। सौ बातकी एक बात यह है कि यह योग धर्मको लेकर ही हुआ है।

किन्तु धर्म क्या है, यदि इस बातको लेकर तर्क किया जाय, तो उसका कभी अंत नहीं हो सकता। इसमें सन्देह नहीं है कि भारतमें धर्मके बाहरी रंग-रूपमें अनेक परिवर्तन हुए हैं, अर्थात् धर्मका जो रूप आज देख पड़ता है, वह पहले नहीं था।

परन्तु यह जानना आवश्यक है कि परिवर्तनसे विच्छेदका बोध नहीं होता। शैशवावस्थाका यौवनावस्थामें परिवर्तन विच्छिन्नताके भीतरसे नहीं होता। कहनेका अभिप्राय यह है कि यौवन, शैशवका विकासमात्र है, उससे भिन्न नहीं है। यूरोपीय इतिहासमें भी राष्ट्रीय प्रकृतिके अनेक परिवर्तन

हुए हैं। उन परिवर्तनोंके भीतरसे परिणतिका स्वरूप स्पष्ट कर देना ही ऐतिहासिकोंका काम है।

यूरोपकी जातियोंने अनेक चेष्टाओं और अनेक परिवर्तनोंके भीतरसे प्रधानतः राष्ट्र-संघटनकी चेष्टा की है। भारतवर्षके लोगोंने अनेक चेष्टाओं और परिवर्तनोंके भीतरसे धर्मको समाजमें मूर्त्तिमन्त करनेकी चेष्टा की है। इस एक मात्र चेष्टामें ही प्राचीन भारतके साथ आधुनिक भारतका ऐक्य है।

यूरोपमें धार्मिक चेष्टाने अपना आंशिक प्रभाव दिखलाया है, पर राष्ट्रीय चेष्टाने अपना पूर्ण प्रभाव विस्तार किया है। धर्मकी उत्पत्ति स्वतन्त्र होते हुए भी वहाँ वह राष्ट्रका एक अङ्ग हो गया है। दैवात् जहाँ कहीं ऐसा नहीं हुआ, वहाँ धर्म और राष्ट्रका चिरस्थायी विरोध बना रहा।

हमारे देशमें जब मुगलोंका राज्य था, तब शिवाजीका आश्रय लेकर राष्ट्रीय चेष्टाने अपना सिर उन्नत किया था। परन्तु उस समय वह चेष्टा धार्म्मिक लक्ष्यको भूल नहीं गई थी। शिवाजीके धर्मगुरु रामदास इस चेष्टाके प्रधान अवलम्ब थे। इससे यह बात प्रकट होती है कि भारतमें राष्ट्रीय चेष्टा धर्मका अङ्ग हो गई थी।

जिसप्रकार 'पॉलिटिक्स' (राजनीति) और 'नेशन' (जाति, राष्ट्र) ये दोनों शब्द यूरोपके निजी हैं, वैसे ही 'धर्म' शब्द भारतकी निजी चीज है। जिस प्रकार 'पॉलिटिक्स' और 'नेशन' का ठीक अनुवाद हमारी भाषामें सम्भव नहीं, उसी प्रकार 'धर्म' शब्दका वाचक ठीक प्रतिशब्द यूरोपीय भाषाओंमें ढूँढ़नेसे भी नहीं मिलता। इसीसे हम लोग 'धर्मको' अँग्रेज़ीका रिलीज़न मानकर समय समयपर बड़ी भूल कर बैठते हैं। अतएव 'धर्म-चेष्टाकी एकता ही भारतकी एकता है,' यह कहना आजकल सबको संगत प्रतीत नहीं होगा।

मनुष्य साधारणतः किसी खास उद्देशकी ओर लक्ष्य रखकर ही काम करता है। उसी लक्ष्यसे उसकी प्रकृतिका परिचय मिलता है। अपने लाभके लिए भी रुपया कमाया जाता है और दूसरोंकी कल्याण-कामनासे भी। जो दूसरोंके कल्याणके उद्देश्यसे रुपया कमाना चाहते हैं, उनके मार्गमें अनेक प्रासङ्गिक बाधाएँ आ खड़ी होती हैं। उन बाधाओंको सावधानीसे दूर करके पर-कल्याण-कामियोंको आगे बढ़ना पड़ता है। परंतु जो लोग अपना लाभ देखकर ही टकेका कारबार करते हैं, वे ऐसी ऐसी बाधाओंकी ओर आँख उठाकर भी नहीं देखते।

अब प्रश्न यह है कि हम पर-कल्याणको क्यों मानने लगे? यहाँ इसका विचार करना चाहिए कि अन्ततः भारतवर्षने अपने लाभकी अपेक्षा पर-कल्याणको, प्रेयकी अपेक्षा श्रेयको, क्या समझकर अपनाया है।

जो व्यक्ति सम्पूर्णतः एकाकी है, उसके लिए कोई भी काम भला या बुरा नहीं हो सकता। आत्मा और अनात्माके योगसे ही सारे भले बुरे कर्मोंकी उत्पत्ति होती है; अतः पहले आत्म-अनात्मका सत्य सम्बन्ध निर्णय करना आवश्यक है। इस सम्बन्धका निर्णय करना और जीवनके कार्योंमें इसे स्वीकार करके चलना ही सदासे भारतकी चेष्टाका सर्वप्रधान विषय रहा है।

आश्चर्यकी बात है कि यहाँके भिन्न भिन्न सम्प्रदायवाले इस सम्बन्धका निर्णय भिन्न भिन्न रूपसे करते हैं, किन्तु व्यवहारमें आकर वे सभी एक ही स्थानपर पहुँचकर मिल जाते हैं। भिन्न भिन्न स्वतन्त्र रूपोंसे भारतवर्ष एक ही बातको कहता है।

एक सम्प्रदाय कहता है कि आत्म-अनात्मके बीच कोई प्रभेद नहीं है। जो प्रभेद देख पड़ता है, उसका मूल कारण अविद्या है।

किन्तु यदि आत्म-अनात्मका प्रभेद न हो, तो भले बुरेका कोई स्थान

ही नहीं रहेगा। इन्हें अभिन्न कह देनेसे काम न चलेगा। जिस अज्ञानके कारण एकमें दोका भान होता है, उसका नाश तो करना ही होगा; नहीं तो मायाके चक्रमें पड़कर निरन्तर दुःख झेलने पड़ेंगे। इसी लक्ष्यपर दृष्टि रखकर कर्मकी उत्तमता और निकृष्टता स्थिर करनी होगी।

दूसरा सम्प्रदाय कहता है कि यह जो आवर्तमान ( घूमता हुआ ) संसार देख पड़ता है, उसके साथ हम वासनाद्वारा आबद्ध होकर चक्कर लगा रहे हैं और दुःख भोग रहे हैं। एक कर्मके द्वारा दूसरा कर्म और उससे तीसरा कर्म उत्पन्न होता है। इस प्रकारकी कर्मोंकी शृंखला हमें जकड़े हुए है। इस कर्मपाशको काटकर मुक्त होना ही मनुष्यका एकमात्र कल्याणकर कर्तव्य है।

किन्तु, तब तो सब कर्मोंको करना बन्द करना होगा। ऐसी बात नहीं है; छुटकारा पाना इतना सहज नहीं है। कर्मको इस प्रकार नियमित करना होगा, जिससे उसका दुच्छेद्य बन्धन क्रमशः शिथिल होता चला जाय। इस ओर लक्ष्य रखकर निर्णय करना होगा कि कौन कर्म शुभ है और कौन अशुभ।

एक सम्प्रदाय कहता है कि यह संसार भगवानकी लीला है। इस लीलाके मूलमें भगवानके प्रेमका, और आनन्दका अनुभव करनेमें ही हमारे जीवनकी सार्थकता है।

इस सार्थकताके उपाय भी पूर्वोक्त दोनों सम्प्रदायोंके उपायोंसे वस्तुतः भिन्न नहीं हैं। अपनी वासनाको खर्व किये विना हम भगवानकी इच्छाका अनुभव ही नहीं कर सकते। भगवानकी इच्छामें अपनी इच्छाको मिला देना ही मुक्ति है। इस मुक्तिकी ओर लक्ष्य रखकर ही कर्मका शुभाशुभ स्थिर करना होगा।

जिन्होंने अद्वैतानन्दको लक्ष्य बना रखा है, वे भी वासना और मोहको काटनेके लिए उद्यत हैं; जो लोग कर्मकी शृङ्खलाओंसे मुक्ति चाहनेवाले हैं, वे भी वासनाको उत्पाटित करना चाहते हैं; और जो लोग भगवानके प्रेममें ही अपनेको लीनकर कल्याण-कामना करते हैं, वे भी विषय-वासनाको तुच्छ करके उससे अलग रहनेकी बात कहते हैं।

यदि इन भिन्न भिन्न सम्प्रदायोंके उपदेश केवल ज्ञानके विषय होते, वे केवल हमारी समझमें ही आ सकते, तो हम लोगोंके पारस्परिक पार्थक्यकी सीमा नहीं रहती। किन्तु इन भिन्न भिन्न सम्प्रदायवालोंने अपने भिन्न भिन्न तत्त्वोंको कर्मोंमें नियोजित करनेकी भी चेष्टा की है। वह तत्त्व कितना ही सूक्ष्म या स्थूल हो, उस तत्त्वको कर्म्ममें परिणत करनेके लिए कितनी ही कठिनाइयाँ क्यों न झेलनी पड़ी हों, तब भी उन्हें झेलकर, हमारे गुरुओंने उस तत्त्वको आचरणोंद्वारा सफल करनेकी चेष्टा की है। भारतवर्षने किसी दिन भी किसी बड़ी बातको असाध्य या संसार-यात्राके अयोग्य बताकर और डरकर नहीं टाला है। इसीसे जो भारतवर्ष एक समय मांसाहारी था, वही भारतवर्ष आज प्रायः सर्वत्र ही निरामिषाशी हो गया है। संसारमें ऐसा दृष्टान्त कहीं भी नहीं मिलता। जो यूरोप सारे जातिगत परिवर्तनोंकी जड़में सुविधाको ही देखता है, वह यह कह सकता है कि भारतवर्ष कृषिप्रधान है और गो-जातिके बिना कृषिका होना कठिन है, अतः भारतवासियोंने गो-मांस खाना छोड़ दिया है। किन्तु मनु आदि शास्त्रोंमें विधान रहते हुए भी, और सब मांसाहार भी, यहाँ तक कि मछली खाना भी भारतवर्षके अनेक स्थानोंसे उठ गया है। 'किसी प्राणीकी हिंसा मत करो' यह उपदेश जैनोंमें इस तरह पालित होता है कि उसे देखकर यह

कभी नहीं कहा जा सकता कि सुविधाके लिए ही मांसाहारका परित्याग किया गया है।

जो हो, जितनी दूर तक तत्त्वज्ञान पहुँचा हुआ है, उतनी ही दूर तक कर्मको भी भारतवर्ष घसीट ले गया है। भारतवर्षने कर्मके साथ तत्त्वका भेद नहीं किया है। इसीसे हमारे देशमें कर्म ही धर्म है। हम कहते हैं कि कर्म मनुष्यमात्रका लक्ष्य है; कर्मसे मुक्ति पाना और मुक्तिके उद्देश्यसे कर्म करना ही धर्म है।

हम पहले ही कह चुके हैं कि तत्त्वोंमें हमारा भेद कितना ही क्यों न हो, पर कर्म्मोंमें हमारी एकता है। मुक्तिवाद अद्वैतानुभवमें हो, अथवा भगवानके अपरिमेय परमानन्दमें; प्रकृति-भेदसे मुक्तिका आदर्श कुछ भी क्यों न हो, परंतु उस मुक्तिके मार्गमें जाने योग्य उपायोंमें एक प्रकारकी एकता है। सारे कर्मोंको निवृत्तिकी ओर प्रवृत्त करना ही वह एकता है। सोपान या सीढ़ीको पार करनेके लिए जैसे सोपान ही उपाय है, वैसे ही कर्मको पार करनेके लिए कर्म ही उपाय है। हमारे समस्त शास्त्रों और पुराणोंमें यही उपदेश दिया गया है और हमारा समाज भी इसी भावपर प्रतिष्ठित है।

यूरोपने कर्मको, कर्मसे मुक्ति पानेका, सोपान नहीं बनाया। उसने कर्मको ही लक्ष्य माना है। यूरोपमें कर्म-संग्रामका अन्त नहीं है। वहाँ कर्म, क्रमशः विस्तृत और विचित्र होता जाता है। उसमें सफलता प्राप्त करना ही वहाँ सबका उद्देश्य है। यूरोपका इतिहास कर्मका इतिहास है।

यूरोपने कर्मको बहुत महत्त्व दे रक्खा है, इससे वह कर्म करनेके सम्बन्धमें स्वाधीनताका इच्छुक है। हमारी जो इच्छा होगी वही करेंगे—ऐसी इच्छासे जहाँ दूसरोंकी स्वाधीनता नष्ट होती है, केवल वहीं उन

लोगोंको कानूनकी आवश्यकता होती है। ऐसे कानूनके बिना समाजके प्रत्येक व्यक्तिकी यथोचित स्वाधीनता रह ही नहीं सकती। इसीसे यूरोपीय समाजमें समस्त शासन प्रत्येक मनुष्यकी इच्छाको स्वाधीन बना रखनेके लिए ही कल्पित किया गया है।

भारतवर्ष भी स्वाधीनताका इच्छुक है, किन्तु उसकी स्वाधीनता कर्मोंसे एकदम छुटकारा पा जाना है। हम जानते हैं कि हम जिसे संसार कहते हैं, उसमें वस्तुतः कर्म ही कर्त्ता है और मनुष्य उसका वाहक। जन्मसे लेकर मृत्यु-पर्यन्त हम एक वासनाके बाद दूसरी वासनाका, एक कर्मके बाद दूसरे कर्मका बोझ ढोते फिरते हैं, यहाँ तक कि हमें दम लेनेका भी अवकाश नहीं मिलता। अन्तमें उस कर्मका भार दूसरेके सिरपर डालकर अचानक मृत्युके मुखमें चले जाते हैं। वासनाके वशीभूत होकर अनन्त कर्मोंको करते जाना जीवनका दासत्व है; और कर्मोंकी अविच्छिन्न दासत्व-शृङ्खलासे मुक्ति पाना भारत-वर्षका अभिप्रेत है।

इसी लक्ष्य-भेदके कारण ही यूरोपने वासनाको यथासम्भव स्वाधीनता दी है और हम लोगोंने उसको यथासम्भव खर्व किया है। वासना कभी शान्तिकी ओर नहीं ले जाती; वह केवल परिणाम-विहीन कर्मचेष्टाको जाग्रत करती रहती है। इसीको हम लोग वासनाकी दुष्टता कहते हैं और उससे झुँझलाये हुए रहते हैं। यूरोप कहता है कि वासना चाहे जिस परिणामपर ले जावे, पर वह हमारे प्रयासको सदा उद्बोधित करती रहती है और यही उसका गौरव है। यूरोप कहता है कि 'प्राप्ति' नहीं, प्रयत्नमें आनंद है। भारतवर्ष कहता है कि जिसे तुम 'प्राप्ति' कहते हो, उसमें आनन्द नहीं मालूम होता है; क्योंकि उस 'प्राप्ति' में हमारे प्रयत्नका शेष नहीं है। वह 'प्राप्ति' हम लोगोंको

दूसरी 'प्राप्ति'के पास घसीट ले जाती है। हम प्रत्येक 'प्राप्ति' को समझते हैं कि वह परिणाम है, पर अन्तमें वह समझ भ्रांति ही सिद्ध होती है; क्योंकि वह 'परिणाम' सिद्ध नहीं होता। जिस 'प्राप्ति' से हमें शान्ति मिल सकती है, जिस 'प्राप्ति' से हमारे प्रयत्नोंका अन्त हो सकता है, यह भ्रम उस 'प्राप्ति' से हमें दूर कर देता है; उससे वह हमें किसी प्रकार मुक्ति नहीं देता। जो वासना उस मुक्तिकी विरोधिनी है, उस वासनाको हम निर्बल करके छोड़ देंगे। हम कर्मको विजयी कभी न होने देंगे, बल्कि उसपर हम खुद ही विजय पावेंगे।

हमारे गृह-धर्म, हमारे संन्यास-धर्म, हमारे आहार-विहारके सारे संयम-नियम, और हमारे वैरागी भिक्षुकोंके ज्ञानसे लेकर बड़े बड़े तत्त्वज्ञानियोंकी शास्त्रीय व्याख्यापर्यन्त, सर्वत्र ही इसी भावका आधिपत्य जमा हुआ है। कृषकसे लेकर पण्डित तक सभी इसी बातको कहते हैं कि हम लोगोंने दुर्लभ मानव-जन्म इसी लिए पाया है कि समझ-बूझकर मुक्तिका मार्ग पकड़ें; संसारके अनन्त आवर्तोंके आकर्षणोंसे अपनेको अलग रक्खें।

संस्कृत भाषामें 'भव' शब्दका धात्वर्थ होता है 'होना'। भव-बन्धनको अर्थात् होनेके बन्धनको हम लोग काटना चाहते हैं। यूरोप चाहता है कि हम खूब हों और हम चाहते हैं कि एक दम न हों।

ऐसी भयंकर स्वाधीनताकी चेष्टा भली है या बुरी, इसकी मीमांसा करना बड़ा कठिन है। जिनकी अनासक्ति स्वाभाविक है, उन्हें आसक्त मनुष्योंके साथ रहनेसे, सम्भव है, विपत्तिका सामना करना पड़े। यह भी सम्भव है कि कालके गालमें चले जायँ। यह भी कह सकते हैं कि मरना-जीना ही सार्थकताकी अन्तिम परीक्षा नहीं है। फ्रान्सने अपने

भीषण राष्ट्र-विप्लवमें स्वाधीनताके एक विशेष आदर्शको समुन्नत करनेकी चेष्टा की थी। उस चेष्टामें उसका अन्त प्रायः निकट ही था। यदि वह नष्ट हो जाता, तो क्या इससे उसका उपार्जित गौरव भी नष्ट हो जाता ? एक डूबते हुए मनुष्यको बचानेके लिए एक आदमीने जान दे दी और एक अदमी तीरपर खड़ा खड़ा तमाशा देखता रहा; तो क्या उस चेष्टाको मरण-परिणामात्मक कहकर उद्धारकको धिक्कार दिया जायगा ? आज संसारके सारे देशोंमें वासनाकी आग धधकाई जाती है; कर्मकी उत्कटता दुगुनी की जाती है; ऐसे समयमें यदि भारतवर्ष जड़तासे नहीं, मूर्खतासे नहीं; जाग्रत और सचेतन होकर वासनासे—बन्धसे मुक्तिके आदर्शको, शान्तिकी जय-पताकाको, पृथ्वीव्यापी इस रक्तरञ्जित अशान्तिके ऊपर अचल तथा दृढ़ मुष्टिसे पकड़कर नष्ट भी हो जाय, तो और लोग उसे भले ही धिक्कार दें, पर मौत उसे अपमानित नहीं कर सकेगी।

पर इस तर्कको अधिक बढ़ानेकी आवश्यकता नहीं है। मोटी बात यह है कि इस बातको हम बार बार भूल जाते हैं कि यूरोपके इतिहासके साथ हमारे इतिहासका मेल हो ही नहीं सकता। जिस ऐक्य-सूत्रमें भारतका भूत और भविष्य ग्रथित है, उसको यथार्थतः अनुसरण करना हो, जानना हो, तो इसके लिए हमें अपने शास्त्र, पुराण, काव्य, सामाजिक अनुष्ठान आदिमें पैठना होगा, राजवंशावालियोंके लिए व्यर्थके आक्षेप करते फिरनेसे हमें कुछ विशेष लाभ नहीं है। यूरोपके इतिहासके आदर्शपर भारतके इतिहास लिखनेकी बात हमें एकदम भूल जानी चाहिए।

इस इतिहासके बहुतसे साधन बौद्ध-शास्त्रोंमें भरे पड़े हैं, इसमें कुछ सन्देह नहीं। हमारे देशके लोग बहुत दिनोंसे बौद्ध-शास्त्रोंकी ओर आँख उठाकर भी नहीं देखते थे। अब यूरोपके पण्डित जब उनके उद्धारमें

लग गये हैं, तब हम लोग उनका अनुकरण करनेकी प्रतीक्षामें हैं; और हमारे देशके लिए यह अत्यन्त दारुण लज्जाकी बात है। हमारा सारा देश-प्रेम सरकारसे भीख माँगनेमें ही है। अन्य किसी दिशामें उसकी और कोई प्रगति नहीं है। क्या सारे देशमें पाँच आदमी भी बौद्ध-शास्त्रोंके उद्धारको अपना जीवन-व्रत नहीं बना सकते? इन बौद्ध-शास्त्रोंके परिचयके विना भारतका सारा इतिहास असंपूर्ण हो रहा है, इस बातका खयाल करके भी क्या देशके नवयुवकोंका उत्साह इस ओर प्रबल नहीं हो सकता?

इस समय धम्मपदका अनुवाद करके श्रीयुत चारुचन्द्र वसु देशके लोगोंके धन्यवाद-भाजन हुए हैं। आशा है, वे इसका अंत यहीं न करेंगे और प्रत्येक बौद्ध-शास्त्रका अनुवाद करके साहित्यका कलंक मिटावेंगे।

चारु बाबूसे हमारा यह अनुरोध है कि यदि मूलका अक्षरशः अनुवाद किया जाता, तो अच्छा होता। यदि कहीं कठिनता आ पड़ती, तो वहाँ टीका करके उसे स्पष्ट करनेसे कोई हानि नहीं होती। अनुवाद यदि हर जगह टीकाका आकार धारण कर लेता है, तो अन्याय होता है। क्योंकि हो सकता है कि व्याख्यामें अनुवादकको भ्रम हो जाय। इसलिए अनुवाद और व्याख्या अलग अलग रहनेसे पाठकोंको विचारका अवकाश मिलता है। मूलकी जिन बातोंका अर्थ स्पष्ट नहीं है, उन्हें अनुवादमें ज्योंका त्यों रख देना ही हम कर्तव्य समझते हैं। इसका दृष्टान्त ग्रन्थका पहला ही श्लोक है। मूल है—

**" मनोपुब्बङ्गमा धम्मा मनोसेट्ठा मनोमया "**

चारु बाबूने इसका अनुवाद किया है—

**मन** ही धर्म-समूहका पूर्वगामी है, मन ही धर्म-समूहोंमें श्रेष्ठ है और धर्म मनसे उत्पन्न होता है।

यदि मूलकी ही बातें रखकर लिखते—" धर्मसमूह मनःपूर्वङ्गम, मनःश्रेष्ठ, मनोमय " तो पाठक मूलकी अस्पष्टताको लेकर अर्थ-विचार करते। ' मन ही धर्म-समूहोंमें श्रेष्ठ है ' कह देनेसे जैसा चाहिए वैसा अर्थ-बोध नहीं होता। इससे ऐसे स्थानोंपर मूलको ज्योंका त्यों रखना उचित है।

**" अक्कोच्छि मं अवधि मं अजिनि मं अहासि मे।**
**ये तं न उपनयन्ति वेरं तेसूपसम्मति ॥ "**

इसका अनुवाद है—" मेरा तिरस्कार किया, मुझे मारा, मुझे हराया, मेरा द्रव्य चुरा लिया, इस प्रकारकी चिन्ताको जो मनमें स्थान नहीं देते, उनका वैरभाव दूर हो जाता है। "

' इस प्रकारकी चिन्ताको जो मनमें स्थान नहीं देते ' यह वाक्य व्याख्या है, अनुवाद नहीं। यदि 'जो इसमें लगे नहीं रहते' ऐसा होता, तो सम्भवतः मूलानुसारी होता। अर्थ-बोधके लिए अधिक बातोंको ब्राकेटमें रखनेसे कुछ हानि नहीं होती। जैसे " मुझे गाली दी, मुझे मारा, मुझे जीता, मेरा (धन) चुराया, इन बातोंको जो (मनमें) बाँध नहीं रखते, उनका वैर शान्त हो जाता है। "

मूलका अन्वय, संस्कृत भाषांतर और बंगला अनुवाद रहनेसे पाठकों और विद्यार्थियोंके लिए यह ग्रन्थ विशेष उपयोगी हो गया है। इस ग्रन्थके सहारे पाली भाषा पढ़नेमें बहुत सहायता मिल सकती है।

यहाँ यह कह देना आवश्यक है कि यही पाली धम्मपद त्रिवेणी कपिलाश्रमके श्रीहरिहरानन्दस्वामीद्वारा भी संस्कृत और बंगलामें अनुवादित हुआ है। आशा है, वह ग्रन्थ भी इस धर्मशास्त्रके प्रचारमें सहायक होगा।

# कुमारसम्भव और शकुन्तला

सर्वसाधारणमें यह बात प्रसिद्ध है कि कालिदास अत्यन्त सौन्दर्यो-पासक कवि थे, अतएव लौकिक कथा-कहानियोंमें कालिदासका चरित्र कलंक-परिपूर्ण है। ये कहानियाँ कालिदासके काव्योंकी सर्वसाधारणकृत समालोचनाएँ हैं। इससे यह बात प्रकट होती है कि जनसाधारणकी अन्य किसी बातपर भले ही विश्वास किया जाय, पर साहित्य-चर्चामें उनके ऊपर आस्था रखनेसे 'अन्धस्यैवान्धलग्नस्य विनिपातः पदे पदे' की कहावत चरितार्थ होगी।

महाभारतमें जो एक विपुल कर्मका आन्दोलन दिखलाई पड़ता है, उसके भीतर एक विशाल वैराग्य भी स्थिर भावसे विद्यमान है। महा-भारतमें कर्मका अन्तिम ध्येय कर्म ही नहीं है। उसके सारे शौर्य्य-वीर्य्य, राग-द्वेष, हिंसा-प्रतिहिंसा, प्रयास और सिद्धिके बीच, श्मशानसे महाप्रस्थानका ही भैरव संगीत सुनाई पड़ रहा है। कहनेका मतलब यह कि कर्मका परिणाम त्याग है। रामायणमें भी यही बात है। परिपूर्ण आयोजन व्यर्थ हो जाता है, हाथ आई हुई सिद्धि चली जाती है, अन्तमें सभीका परिणाम परित्याग होता है। तिसपर भी इस त्यागमें दुःखमें, निष्फलतामें ही कर्मका महत्त्व और पुरुषके पौरुषका प्रभाव रजतगिरिके समान उज्ज्वल और आकाशतक सिर ऊँचा किये खड़ा है।

इसी प्रकार कालिदासके चञ्चल सौन्दर्यके भीतर भोग-वैराग्य स्तब्ध हो गया है। जिस प्रकार महाभारत एक ही साथ कर्म और वैराग्यका काव्य कहा जा सकता है, उसी प्रकार कालिदास

भी एक साथ ही सौन्दर्योपासक और भोग-विरागी कवि कहे जा सकते हैं। उनके काव्य सौन्दर्य-भोगमें ही समाप्त नहीं हो जाते; कविने उसे पार करके ही शान्ति ली है और अपनी लेखनीको विश्राम दिया है।

कालिदास कहाँ रुके हैं और कहाँ नहीं, यही इस समयके आदर्शके साथ तुलना करके आलोचना करने योग्य विषय है। बीचमें ही कहीं रुककर विचार करनेसे काम न चलेगा। उनका गंतव्य स्थान कौनसा है, उनका लक्ष्य क्या है, यह हमें देखना होगा।

मेरा दृढ़ विश्वास है कि जिस समय दुष्यन्तको धीवरके द्वारा अँगूठी मिली थी और वे अपना भ्रम समझकर पश्चात्तापके गहरे गर्तमें गिरे हुए थे, उसी समय यूरोपके कवि शकुन्तला नाटकका अन्तिम पटाक्षेप कर देते। अन्तिम अङ्कमें स्वर्गसे लौटनेके समय मार्गमें दैवयोगसे दुष्यन्तकी भेंट शकुन्तलासे हो गई, यह यूरोपीय नाटक-शैलीके अनुसार कोई आवश्यक घटना नहीं थी। क्योंकि शकुन्तला नाटकके प्रारम्भमें जो बीज-वपन मिलनसे हुआ था, यह विच्छेद ही उसका अन्तिम फल था। उसके बाद भी दुष्यन्त और शकुन्तलाका संगम, बाहरी उपायसे, दैवकृपासे, कराया गया है। अन्यथा नाटकके अन्तर्गत कोई ऐसा घटना-सूत्र नहीं था, दुष्यन्त-शकुन्तलाका कोई ऐसा व्यवहार नहीं था, जिससे यह सङ्गम पुनः संभव होता।

इसी प्रकार सामयिक कवि हतमनोरथा पार्वतीके दुःख और लज्जाके मध्यकालमें ही कुमारसम्भव समाप्त कर देते। उस असमायिक वसन्तकालीन रक्ताशोकके मञ्जु-कुञ्जमें मन्मथ-मथन महादेवके दीप्त कोपानलकी छटा देखकर नम्रमुखी लज्जारुणा पार्वती अपने समस्त व्यर्थ पुष्पाभरणको धारण किये पाठकोंके व्यथित हृदयके करुण अरुण-कमलपर आकर खड़ी रहती; अकृतार्थ प्रेमकी वेदना पाठकोंको चिरकाल तक घेरे

रहती। आधुनिक समालोचकोंके मतमें यहीं काव्यका उज्ज्वल सूर्यास्त होता है, उसके बाद विवाहकी रात तो अत्यन्त प्रकाशहीन है।

विवाह तो संसारमें नित्यप्रतिकी घटना है। यह नियमबद्ध समाजका एक अंग है। विवाह एक ऐसे पथका निर्देश करता है, जिसका लक्ष्य एक ही है और जिसमें मनुष्यकी प्रबल प्रवृत्तियाँ अपना प्रभुत्व नहीं दिखला सकतीं; उन्हें सीमितकर उनका प्रबल निषेध कर दिया जाता है। इसी लिए आजकलके कवि अपने काव्योंमें वैवाहिक व्यापारोंको उतना महत्त्व नहीं देते। जो प्रेम अपने प्रबल वेगसे नर-नारियोंको चारों ओरके हजारों बन्धनोंसे मुक्त कर डालता है, उनको संसारके बहुत दिनोंके अभ्यस्त पथसे बाहर खींच लाता है; जिस प्रेमके कारण स्त्री-पुरुष अपने मनमें यह समझते हैं कि हम स्वयं परिपूर्ण हैं, समझते हैं कि सारा संसार भी विमुख हो जाय तो हमें कुछ भय नहीं और न अभाव है; जिस प्रेमकी उत्तेजनासे वे विच्छिन्न और विक्षिप्त ग्रहके समान स्वतन्त्र होकर चक्कर खाते फिरते हैं, वही प्रेम काव्यका प्रधान विषय हो रहा है।

कालिदासने अनाहूत प्रेमके उस उन्मत्त सौन्दर्य्यकी उपेक्षा नहीं की है; उसे तरुण लावण्यके समुज्ज्वल रंगोंसे चित्रित किया है। किन्तु इसी उज्ज्वलतामें उन्होंने अपना काव्य समाप्त नहीं किया। महाभारतके सारे कर्म्मोंका अन्त जैसे महाप्रस्थानमें हुआ है, वैसे ही कुमारसम्भवके सारे प्रेमका वेग मङ्गल-मिलनमें समाप्त हुआ है।

कुमारसम्भव और शकुन्तलाकी तुलना किये बिना रहा नहीं जाता। दोनों काव्योंके विषय प्रच्छन्न भावसे एक ही हैं। दोनों ही काव्योंमें कामदेवने जिस मिलन-व्यापारको सिद्ध करनेकी चेष्टा की है, उसमें दैव-शापसे विघ्न उपस्थित हुआ है। वह मिलन असम्पन्न और असम्पूर्ण

रहकर अपने विचित्र-कारु-कार्य-खचित परम सुन्दर मिलन-मन्दिरमें ही दैवाहत होकर मर गया है। उसके बाद कठिन दुःख और दुःसह विरह-व्रतद्वारा जो मिलन सम्पन्न हुआ है, उसकी प्रकृति ही भिन्न है। यह मिलन सौन्दर्य्यके सारे बाहरी आडम्बरोंको छोड़कर निर्मल वेशमें कल्याणकी कमनीय दीप्तिसे जगमगा उठा है।

स्पर्द्धाशील कामदेवने जिस मिलनका कर्तृत्व-भार अपने ऊपर लिया था, उसका आयोजन बहुत अधिक था। समाज-वेष्टनके बाहर दोनों ही तपोवनोंके भीतर अकारण और आकस्मिक नये प्रेमको व्यक्त करनेमें जैसा और जितना काम कविने सुन्दर रूपसे, कौशलसे लिया है, उतना ही समारोहसे भी लिया है।

यति सर्वस्व-त्यागी, महादेव हिमालयके एक प्रान्तमें आसन लगाये तपस्या कर रहे थे। मृगनाभि या कस्तूरीकी सुगन्ध और किन्नरोंकी संगीत-ध्वनिको वहन करती हुई शीतल वायु गङ्गाप्रवाह-सिञ्चित देवदारु-श्रेणीको आन्दोलित कर रही थी। अचानक असामायिक वसन्त-कालके समागमसे दक्षिण-दिग्वधू, सद्यःपुष्पित अशोकके नवपल्लव-जालको मर्मर करती हुई, उष्ण-दीर्घ श्वास छोड़ने लगी। भ्रमर-युगल एक ही कुसुम-पात्रमें मधु-पान करने लगे और कृष्णसार मृग स्पर्शनिमीलिताक्षी हरिणीका शरीर सींगसे खुजलाने लगे।

तपोवनमें भी वसन्तका समागम हुआ। तपस्याके दृढ़ संयम-नियमके कठिन वेष्टनके भीतर भी अचानक प्रकृतिके आत्म-स्वरूपका विस्तार हुआ! प्रमोद-वनमें वसन्तकी ऐसी आश्चर्यजनक वासन्तिकता कभी नहीं देखी गई।

महर्षि कण्वके मालिनी-तटवर्ती आश्रममें भी यही बात है। वहाँ हुत होमके धूमसे तपोवनके वृक्षोंके पत्ते विवर्ण हो गये हैं; जलाशयके मार्ग

मुनियोंके आर्द्र-वल्कल-क्षरित जलपंक्तिसे अङ्कित हैं और विश्वस्त मृग-दल रथ-चक्र-ध्वनि तथा ज्या-निर्घोषको कुतूहलके साथ निर्भय होकर सुन रहे हैं। किन्तु वहाँसे प्रकृति कहीं दूर नहीं गई है। वहाँ भी कभी कभी रूक्ष वल्कलके नीचेसे शकुन्तलाका नवयौवन अलक्ष्य भावसे उद्भिन्न होकर दृढ़बद्ध बन्धनको दूर कर रहा है। वहाँ भी वायुकम्पित पत्रांगुलिद्वारा आम्र-वृक्षका जो संकेत है, वह भी सर्वांशमें साम-मन्त्रके अनुकूल नहीं है; और नव-कुसुम-यौवना नव-मल्लिका-लता सहकार या आम्रतरुको आलिङ्गनकर प्रिय-मिलनकी उत्कंठा ही प्रकट कर रही है।

चारों ओर नवोदित अकाल-वसन्तके असीम समारोहके बीच गिरि-राज-नन्दिनी दिखलाई पड़ती हैं। उस समयका उनका मनोहर वेश अपूर्व ही था। वे अशोक और कार्णिकार ( कनैर ) के आभूषणोंसे भूषित थीं। अंगोंपर बालारुण-वर्णका वसन विद्यमान था। केसर-मालाकी काञ्ची बार बार खिसकी पड़ती थी; और वे भय-चञ्चल लोचनोंसे देखती हुई क्षण क्षण लीला-कमलको सञ्चालित करके ढीठ भौरोंको दूर कर रही थीं।

दूसरी ओर देवदारु वृक्षके नीचे वेदीपर व्याघ्र-चर्मासनपर आसीन धूर्जटि भुजंगपाशसे बद्ध जटा-कलाप और ग्रन्थिबद्ध कृष्ण-मृग-चर्मको धारण किये ध्यानसे आँख बन्द किये हुए तरंगशून्य समुद्रके समान होकर अपनी आत्माको अपनेमें ही देख रहे थे।

कामदेव उस असामायिक वसन्त-कालमें ऐसी दो भिन्न प्रकारकी प्रकृतिके स्त्री-पुरुषके बीच मेल-मिलापके लिए उद्यत हुआ था।

कण्वाश्रममें भी यही बात थी। कहाँ तो वल्कलधारिणी तापस-कुमारी और कहाँ ससागरा पृथ्वीके चक्रवर्ती अधीश्वर ! ऐसे देश-काल-पात्रको

जो एक क्षणमें उलट-पुलट देता है, उस कामदेवकी कितनी शक्ति है; यही कालिदासने दिखलाया है।

किन्तु कविने यहींपर विश्राम नहीं किया; इस शक्तिके निकट ही उन्होंने अपनी सारी काव्य-शक्ति खर्च नहीं कर डाली। उन्होंने जैसे इस शक्तिकी जय-घोषणा की है, वैसे ही अन्य दुर्जेय शक्तियोंके द्वारा पूर्णतर अन्तिम मिलन कराके ही अपना काव्य समाप्त किया है। स्वर्गके देवताओंसे उत्साहित और वसन्तकी मोहिनी शक्तिसे सहाय-सम्पन्न कामदेवको केवल परास्त करके ही नहीं छोड़ दिया है, बल्कि उसके स्थानपर एक ऐसेको विजयी बनाकर छोड़ा है, जिसके पास न तो कुछ वेश-भूषा है और न किसीकी सहायता; जो तपस्यासे दुर्बल है और दुःखसे मलिन।

जिस प्रेममें कोई बन्धन नहीं, कोई नियम नहीं, जो प्रेम अकस्मात् नर-नारीको मोहित करके संयम-दुर्गके भग्न प्राचीरके ऊपर अपनी जय-पताकाको गाड़ता है, उस प्रेमकी शक्तिको कालिदासने स्वीकार किया है, किन्तु उसके हाथ आत्म-समर्पण नहीं कर दिया। उन्होंने दिखलाया है कि जो असंगत प्रेम-सम्भोग हम लोगोंको अपने अधिकारसे प्रमत्त या कर्तव्यच्युत कर देता है, वह स्वामि-शापसे खण्डित, ऋषि-शापसे प्रति-हत और देवरोषसे भस्म हो जाता है। शकुन्तलाको आतिथ्य धर्मका खयाल नहीं रहा, वह दुष्यन्तके ही ध्यानमें मग्न रही। उस समय शकुन्तलाके प्रेमका मंगल-भाव मिट गया। जो उन्मत्त प्रेम अपने प्रेम-पात्रको छोड़कर और किसीकी कुछ भी परवाह नहीं करता, उसके विरुद्ध सारा संसार हो जाता है। इसीसे वह प्रेम थोड़े ही दिनोंमें दुर्भर हो जाता है। वह सबसे विरुद्ध होकर अपना अस्तित्व बनाये रखनेमें असमर्थ हो उठता है। जो संयत प्रेम सारे संसारके अनुकूल रहता है; अपने

चारों ओरके, क्या बड़े और क्या छोटे, क्या अपने और क्या पराये, किसीको भी नहीं भूलता, जो प्रेम अपने प्रियजनको केन्द्र-स्थलमें रखकर सांसारिक नियमोंके बीच ही अपना मंगल समझता है, उसके स्थायित्वमें क्या मनुष्य और क्या देवता, कोई भी आघात नहीं पहुँचा सकता। आघात पहुँचा करके भी उसे तिलभर विचलित नहीं कर सकता। किन्तु जो प्रेम तपोवनमें यतिके तपका बाधक होकर प्रकट होता है, गृहस्थके गृहप्राङ्गणमें संसार-धर्मको अकस्मात् नष्ट करनेके रूपमें प्रकट होता है, वह झंझावातके समान दूसरेको भले ही नष्ट कर दे, किन्तु अपना नाश भी अपने साथ ही लाता है।

यौवन-भारसे दबी हुई, सञ्चारिणी पल्लविनी लताके समान आकर गौरीने गिरीशके पद-प्रान्तमें प्रणाम किया। उनके कानसे पल्लव गिर पड़े और अलकोंसे कर्णिकारके कुसुम विच्युत हो गये। मन्दाकिनीके जलमें जो कमल फूले हुए थे, उनके सुखाये हुए बीजोंकी जो माला गूँथ रखी थी, उसे पार्वतीने अपने लाल हाथोंसे संन्यासी शंकरके हाथोंमें समपर्ण कर दिया। हाथसे हाथका स्पर्श हुआ। चञ्चल-चित्त होकर योगीने उमाके मुख और बिम्बाधरोंको तीनों नेत्रोंसे देखा। उस समय उमाका शरीर पुलकपूर्ण हुआ, दोनों नेत्र विकसित हुए और मुखने वक्र-भाव धारण किया।

किन्तु इस अपूर्व सौन्दर्यमें अकस्मात् जो आनन्द उद्भासित हुआ, उसका विश्वास देवताने नहीं किया, सरोष होकर उसका प्रत्याख्यान कर दिया। अपने ललित लावण्यका अपमान देखकर लज्जा-कुण्ठिता पार्वती किसी प्रकार घर लौट आई।

एक दिन कण्व-कन्या शकुन्तलाको भी अपने रूप-यौवन-लावण्यके सारे ऐश्वर्यका अपमान कराकर लौटना पड़ा था। दुर्वासाका शाप तो

कविकी एक कल्पना मात्र है । दुष्यन्त और शकुन्तलाका बन्धन-विहीन गोपन-मिलन चिरकाल तक शापके अंधकारमें लीन रहा । उन्मत्तताका उज्ज्वल उन्मेष क्षणकाल तक ही रहता है; फिर उसे अवसाद, अपमान और विस्मृतिका अंधकार आ घेरता है । यही सदाका नियम है । प्रत्येक देशमें, प्रत्येक समयपर, अपमानिता नारी "**व्यर्थं समर्थ्य ललितं वपुरात्मनश्च**" अपने ललित तनु-लावण्यको व्यर्थ समझकर "**शून्या जगाम भवनाभिमुखी कथञ्चित्**" शून्य-हृदय होकर किसी प्रकार घरकी ओर लौट गई है । सुन्दर शरीरका सौन्दर्य्य ही स्त्रियोंका परम गौरव और चरम सौन्दर्य्य नहीं है ।

इसी लिए '**निनिन्द रूपं हृदयेन पार्वती**' पार्वतीने मन ही मन अपने रूपकी निन्दा की; फिर '**इयेष सा कर्तुमबन्ध्यरूपतां**' उसने अपने रूपको सफल बनानेकी इच्छा की । पर रूप सफल हो किस प्रकार ? क्या शृंगारसे, कपड़ों और गहनोंसे ? नहीं, वह परीक्षा तो व्यर्थ हो गई है ।

**इयेष सा कर्तुमवन्ध्यरूपतां**
**समाधिमास्थाय तपोभिरात्मनः ।**

उसने तपस्यासे अपने रूपको अवन्ध्य-सफल बनानेकी इच्छा की । इस बार पार्वतीने तरुण प्रभाकरके समान रक्ताम्बरसे अपने शरीरको भूषित नहीं किया; कानोंपर आम्र-पल्लव नहीं रक्खे और अलकोंमें कर्णिकार-कुसुमोंको भी धारण नहीं किया । उसने कठोर मौञ्जी-मेखलासे वल्कलको कसकर बाँधा और आसन बाँध ध्यानमें मग्न हो आँखें बन्द कर लीं । वसन्त-सखा कामदेवको छोड़कर कठिन दुःखको ही उसने प्रेमका सहायक बनाया ।

शकुन्तला भी मदन-ग्लानिको दुःख-तापसे दग्ध करके कल्याणी तपस्विनीका वेश धारण करती हुई सार्थक प्रेमकी प्रतीक्षा करने लगी ।

जिस त्रिलोचन महादेवने वसन्तपुष्पाभरणा पार्वतीका क्षणभरमें ही प्रत्याख्यान कर दिया था, उन्होंने ही दिनकी चन्द्रकलाकी भाँति क्षीण-देहा और श्लथ-लम्बित-पिङ्गल-जटा-धारिणी तपस्विनीके निकट संशय-रहित हृदयसे अपनेको समर्पण कर दिया। लावण्य-पराक्रान्त यौवनको पराकृत करके पार्वतीकी निराभरण-कान्ति निर्मल ज्योति-लेखाकी भाँति चमकने लगी। प्रार्थीको उस सौन्दर्यने विचालित नहीं किया, बल्कि चरितार्थ कर दिया। उसमें लज्जा-आशंका और आघात-आलोड़न नहीं रहा। उस सौन्दर्यके बन्धनको आत्माने सादर वरण किया; इसमें अपने निरादरका अनुभव नहीं किया।

इतने दिनोंपर—

**धर्मेणापि पदं शर्व्वे कारिते पार्वतीं प्रति।**
**पूर्वापराधभीतस्य कामस्योच्छ्वासितं मनः॥**

जब धर्मने महादेवके मनको पार्वतीकी ओर आकृष्ट किया, तब पूर्वापराधभीत कामदेवका मन उच्छ्वसित हुआ। जहाँ धर्मके द्वारा दोनों हृदय एकत्र होते हैं, वहाँ कामदेवके साथ किसीका विरोध नहीं रहता; किन्तु जब वह धर्मके साथ विरोध खड़ा करता है, तभी विप्लव उप-स्थित होता है; तभी प्रेममें स्थिरता और सौन्दर्यमें शान्ति नहीं रहती। किन्तु कामका धर्मके भीतर जो स्थान नियत है, वहाँ वह भी धर्मकी परिपूर्णताका एक अंग है। वहाँ रहकर भी वह सुषमा भंग नहीं कर सकता; क्योंकि धर्मका अर्थ ही सामञ्जस्य है। यह सामञ्जस्य ही सौन्दर्य्यकी रक्षा करता है, मंगलकी रक्षा करता है और सौन्दर्य्य तथा मङ्गलको अभिन्न बनाकर दोनोंको आनन्दमय संपूर्णताके सरोवरमें सराबोर कर देता है। सौन्दर्य जहाँ इन्द्रियोंकी वृत्तियोंसे परे होकर भावोंमें प्रवेश करता है, वहाँ बाह्य

सौन्दर्य और भूषणोंका प्रयोजन ही क्या ? प्रेमके मन्त्र-बलसे मनके जिस सौन्दर्यकी सृष्टि होती है, उसका विचार बाह्य सौन्दर्यकी दृष्टिसे किया ही नहीं जा सकता। शिवके समान तपस्वी और गौरीके समान किशोरीके विषयमें बाह्य-सौन्दर्यके नियमसे मेल होना विचार-सङ्गत नहीं हो सकता। स्वयं शङ्करने कपट-वेश धारण करके तपस्या-रता पार्वतीसे यह बात कही थी। पार्वतीने उत्तर दिया था '**ममात्र भावैकरसं मनः स्थिरम्**' मेरा मन उन्हींमें भावैकरस होकर लगा हुआ है। यह जो रस है, वह भावका रस है। इसमें और बात नहीं घुसेड़ी जा सकती। इसमें मन बाहरी विषयोंपर विजयी बना रहता है। वह अपने आनन्दकी आप ही सृष्टि कर लेता है। शिवजीने भी एक दिन बाह्य सौन्दर्यका प्रत्याख्यान कर दिया था। किन्तु प्रेमकी दृष्टि, धर्मकी दृष्टि और मङ्गलकी दृष्टिसे उन्होंने जिस सौन्दर्यको देखा, उसने तपस्याकृश और आभरण-हीन होनेपर भी उनको जीत लिया। क्योंकि सौन्दर्यकी उस विजयमें शिवजीके मनने ही सहायता की थी। उनकी हारमें मनका कर्तृत्व-अधिकार नष्ट नहीं होता।

जिस समय धर्मने तपस्वी और तपस्विनीका मिलन-साधन किया, उस समय स्वर्ग और मर्त्य इस प्रेमके सहायक और साथी हुए; इस प्रेमके आह्वानसे सप्तर्षियोंका आसन डिगा, और इस प्रेमका उत्सव लोक-लोकान्तरमें व्याप्त हुआ। इसमें न तो कोई गूढ़ षड्यन्त्र था, न असमयमें वसन्तका ही उदय हुआ था और न छिपे छिपे कामदेव ही अपना शर तान रहा था। इस उत्सवकी जो अम्लान मङ्गल शोभा थी, वह समस्त संसारके आनन्दकी सामग्री थी। सारे संसारने इस शुभ मिलनके निमन्त्रणमें योग देकर इसे सुसम्पन्न किया था।

सप्तम सर्गमें यही विश्वव्यापी उत्सव है, और इसी विवाहोत्सवमें कुमार-सम्भवका उपसंहार है ।

शान्तिमें ही सौन्दर्यकी सम्पूर्णता है, विरोधमें नहीं । कालिदासने अपने काव्यके रस-प्रवाहको उसी स्वर्ग-मर्त्यव्यापिनी सर्वांग-सम्पन्न शान्तिमें मिलाकर उसका परिणाम महान् कर दिया है । उन्होंने उसे आधे ही रास्तेमें " न ययौ न तस्थौ " कहकर छोड़ नहीं दिया । बीचमें उन्होंने एक बार जो इस रस-प्रवाहको विक्षुब्ध कर दिया है, सो केवल इसी परिणत सौन्दर्यकी प्रशान्तिको प्रगाढ़ रूपसे प्रकट करनेके लिए और उसकी स्थिर-शुभ-मङ्गल-मूर्त्तिकी तुलना विचित्र वेशधारी उद्भ्रान्त सौन्दर्यसे करके उसे उज्ज्वल बनानेके लिए ।

शङ्करने सप्तर्षियोंके बीच पतिव्रता अरुन्धतीको देखा, तब उन्होंने समझा कि पत्नीका सौन्दर्य क्या है ।

**तद्दर्शनादभूत् शम्भोर्भूयान् दारार्थमादरः ।**
**क्रियाणां खलु धर्म्याणां सत्पत्नी मूलकारणम् ॥**

[ उसे देखकर शंकरको दार-ग्रहणके प्रति पुनः आदर हुआ । सत्पत्नी ही सारे धर्म्मकार्योंका मूल कारण है । ]

पतिव्रताकी मुखच्छविमें विवाहिता रमणीकी जो गौरव-कान्ति अंकित रहती है, वह नियत आचरित कल्याण-कर्म्मका स्थिर सौन्दर्य है । शंकरके कल्पना-नेत्रोंमें वह सौन्दर्य जब अरुन्धतीकी सौम्य मूर्तिसे निकलकर नव-वधू-वेशिनी गौरीके मुखमण्डलपर प्रतिबिम्बित हुआ, तब पार्वतीकी जो शोभा हुई, वह शोभा अकाल वसन्तके सारे पुष्पाभरणोंसे भी नहीं हुई थी ।

विवाहके दिन पार्वती—

**सा मंगलस्नानविशुद्धगात्री गृहीतपत्युद्गमनीयवस्त्रा ।**
**निर्वृत्तपर्जन्यजलाभिषेका प्रफुल्लकाशा वसुधेव रेजे ॥**

[ मङ्गल-स्नानसे निर्मल-शरीर होकर जब पार्वतीने पतिके मिलने योग्य वसन धारण किया, तब वह वर्षाके जलाभिषेकके अनन्तर प्रफुल्ल काश-कुसुम धारण करनेवाली वसुधाके समान शोभा देने लगी । ]

अहा ! यह जो मङ्गल कान्तिवाली निर्म्मल शोभा है, इसमें कैसी श्री, कैसी शान्ति और कैसी सम्पूर्णता है । इसमें सारी चेष्टाओंका अन्त और समग्र वेशभूषाकी रचनाका अन्तिम परिणाम है । इसके बीच न तो इन्द्रसभाका कोई प्रयास है, न कामदेवका कोई मोह है और न वसन्तकी कोई अनुकूलता । इस समय यह अपनी ही निर्मलता और मङ्गलतासे आप ही अचञ्चल और आप ही सम्पूर्ण है ।

हमारे देशमें मातृपद स्त्रियोंका प्रधान पद है, सन्तानोत्पत्ति हमारे देशमें एक माङ्गलिक व्यापार है । इसी लिए मनु महाराजने कहा है कि "**प्रजनार्थं महाभागाः पूजार्हा गृहदीप्तयः**"—वे सन्तानोंको जन्म देती हैं, इसीसे महाभाग्यवती, पूजनीया और घरकी दीप्तिस्वरूपा हैं । समूचा कुमारसम्भव काव्य कुमार-जन्मस्वरूप महाव्यापारकी उपयुक्त भूमिका है । कामदेवके बाण-प्रहारसे धैर्य नष्ट होकर जो मिलन होता है, वह पुत्र-जन्मके योग्य नहीं है । वह मिलन परस्परकी ही कामना करता है, पुत्रकी कामना नहीं करता । इसीसे कविने कामदेवको भस्म कराकर पार्वतीद्वारा तपस्या कराई है । इसीसे कविने प्रवृत्तिकी चञ्चलताके स्थान-पर ध्रुव-निष्ठाकी एकाग्रता, सौन्दर्य-मोहके स्थानपर कमनीय द्युति और वसन्त-विह्वल वनभूमिके स्थानपर आनन्द-मग्न संसारको स्थिर रूपसे खड़ा किया है । इसके अनन्तर कुमार-जन्मका सूत्रपात हुआ है । कुमार-जन्मकी महिमा क्या है, यही स्पष्ट करनेके लिए कविने कामदेवको रुद्र-रोषानलमें आहुति देकर अनाथा रतिका करुण क्रन्दन कराया है ।

शाकुन्तलमें भी प्रथम अंकमें प्रेयसीके साथ दुष्यन्तका प्रणय दिखा-

कर अन्तिम अंकमें भरत-जननीके साथ उसके सार्थक मिलनको अंकित किया है।

शाकुन्तलका प्रथम अंक चञ्चलता और उज्ज्वलतासे परिपूर्ण है। उसमें उद्वेलयौवना ऋषिकन्या, कौतुकाकुल दोनों सखियाँ, नवकुसुमिता वनतोषिणी, सौरभ-भ्रान्त मूढ़ भ्रमर और तरु-अन्तरालवर्ती मुग्ध राजा, इन सबने तपोवनके एक एकान्त प्रान्तका आश्रय लेकर एक अभूतपूर्व दृश्य खड़ा कर दिया है। इस प्रमोद-स्वर्गसे दुष्यन्त-प्रणयिनी अपमानित होकर निर्वासित कर दी गई। किन्तु कल्याणरूपिणी भरत-जननीने जिस तपोभूमिका आश्रय लिया है, उसका दृश्य कुछ और ही है। वहाँ किशोरी तापस-कन्याएँ पेड़ोंके आलबालमें जल नहीं डालतीं, लता-भगिनियोंको स्नेह-दृष्टिसे अभिषिक्त नहीं करतीं और न कृत्रिम-पुत्र मृगशिशुको नीवार-कण देकर पालन ही करती हैं। वहाँ वृक्ष, लता, पुष्प और पल्लवकी सारी चञ्चलताओंपर एक बालकने ही अधिकार जमा रक्खा है। जिधर देखो उधर वह बालक ही बालक देख पड़ता है। वहाँ इन बातोंकी ओर किसीका ध्यान ही नहीं जाता कि आमोंमें मंजरियाँ लगती हैं या नहीं; नवमालतीकी कलिकाएँ विकसित होती हैं या नहीं। स्नेह-व्याकुल तपस्विनी माताएँ दुष्ट बालककी देख-रेखमें ही अस्तव्यस्त हैं। प्रथम अंकमें दुष्यन्त, शकुन्तलासे परिचय होनेके पूर्व, उसके नवयौवनकी लावण्य-लीलासे ही मुग्ध और आकृष्ट हुए थे। अन्तिम अंकमें शकुन्तलाके बालकने ही शकुन्तलाके सारे सौन्दर्यको अपनाकर राजा दुष्यन्तके अन्तःकरणको आर्द्र बना दिया है। इसी समय——

**वसने परिधूसरे वसाना,**
**नियमक्षाममुखी धृतैकवेणिः।**

मलिन-धूसर-वसना, नियमाचरणसे शुष्कमुखी, एक वेणी धारण

किये, विरहव्रतचारिणी, शुद्धशीला शकुन्तला दिखलाई पड़ी। ऐसी तपस्या करनेके उपरान्त भी क्या वर-लाभ नहीं होगा? प्रथम समागमकी ग्लानि, बहु-दिन-व्यापी व्रत-नियमसे दग्ध होनेके उपरान्त पुत्र-शोभासे परम सुशोभित जो करुण-कल्याण-छविवाली जननी मूर्ति विकसित हुई है, उसका निरादर कौन कर सकता है?

पार्वतीकी दृष्टिमें कोई अभाव, कोई दैन्य-भाव, शंकरमें दिखलाई न पड़ा। उन्होंने उन्हें भावकी दृष्टिसे देखा था। उस दृष्टिमें धन, रत्न, रूप और यौवनकी कोई खोज नहीं थी। कठोर अपमानके अनन्तर भी शकुन्तलाका प्रेम, मिलन-कालमें दुष्यन्तके किसी अपराधके कारण मलिन न हुआ। उस समय दुःखिनिके दोनों नेत्रोंसे आँसुओंकी झड़ी बँध गई। जहाँ प्रेम नहीं, वहाँ अभाव, दैन्य और कुरूपकी कोई सीमा नहीं है; जहाँ प्रेम नहीं वहाँ पद-पदपर अपराधकी गणना होती है। पार्वतीके प्रेमने जैसे अपनी ही सौन्दर्य-सम्पत्तिसे संन्यासीको सुन्दर और ईश्वरकी दृष्टिसे देखा था, वैसे ही शकुन्तलाके प्रेमने भी अपनी मङ्गलमयी दृष्टिसे दुष्यन्तके सारे अपराधोंको भुलाकर देखा था। युवक-युवतीके मोह-मुग्ध प्रेममें ऐसी क्षमा कहाँ है? भरत-जननीने जिस प्रकार अपने उदरमें पुत्रको धारण किया था, उसी प्रकार शकुन्तलाने भी सहिष्णुतामयी क्षमासे तपोवनमें रहते हुए अपने अन्तःकरणको परिपूर्ण कर रक्खा था। बालक भरतने दुष्यन्तको दिखाकर पूछा था कि "माँ, ये कौन हैं. जो मुझे पुत्र कह रहे हैं?" शकुन्तलाने इसका उत्तर दिया था कि "बेटा, भाग्यसे पूछ।" इसके भीतर अभिमान नहीं था। इसका अर्थ यही है कि भाग्य यदि प्रसन्न होगा, तो इसका उत्तर पाओगे। यह कहकर वह राजाकी प्रसन्नताकी प्रतीक्षा करने लगी। ज्यों ही उसको यह मालूम हुआ कि राजाके मुखमण्डलसे अस्वीकारका आभास नहीं

प्रकट होता, त्यों ही उसने निरभिमान होकर राजाके चरणोंमें पुष्पाञ्जलिकी भाँति, अपनेको समर्पण कर दिया। उसने अपने भाग्यके सिवा किसीपर कुछ दोष नहीं लगाया। यदि आत्मभिमानसे अन्यको खण्डित करके हम देखते हैं, तो उसके सारे दोष विशाल रूप धारण करके सामने खड़े दिखाई देते हैं; और यदि भावोंके द्वारा, प्रेमके द्वारा, उसे परिपूर्ण देखते हैं, तो वे न जाने कहाँ अदृश्य हो जाते हैं।

जिस प्रकार श्लोकका एक चरण सम्पूर्ण मिलनके लिए अन्यान्य चरणोंकी अपेक्षा रखता है, उसी प्रकार दुष्यन्त-शकुन्तलाका प्रथम मिलन इस द्वितीय मिलनके लिए एकान्त आकांक्षा रखता है। शकुन्तलाको इतने दुःसह दुःख और कठिन वियोगमें छोड़ देना उचित नहीं। यदि यज्ञके आयोजनमें आग जलती रहे और उसपर अन्नपाक न किया जाय, तो निमन्त्रितोंकी क्या दशा होगी? इसी प्रकार शकुन्तलाका अन्तिम अंक नाटककी बाह्य रीतिके अनुसार उचित नहीं है, पर एक उसकी भी अपेक्षा अधिक आवश्यक और गम्भीर नियमके पालनके लिए है।

देखनेसे प्रकट होता है कि कुमारसम्भव और शकुन्तला दोनोंके काव्य-विषय एक ही हैं। कविने दोनों काव्योंमें दिखलाया है कि मोहमें जो अकृतार्थ हुआ है, वह मङ्गलमें परिसमाप्त है। दिखलाया है कि धर्ममें जो सौन्दर्य है, वही ध्रुव है और प्रेमका जो शान्त तथा संयत रूप है, वही श्रेष्ठ है। बन्धनमें ही यथार्थ शोभा है और उच्छृङ्खलतामें सौन्दर्यकी विकृति। भारतवर्षके प्राचीन कवियोंने प्रेमको ही प्रेमका परम लक्ष्य माना है। उनके मतमें नरनारियोंका प्रेम तब तक सुन्दर नहीं होता—स्थायी नहीं होता, जब तक कि वह बन्ध्य—अपनेमें ही संकीर्ण, रहता है; कल्याणको नहीं अपनाता और संसारमें पुत्र-कन्या तथा अतिथि-प्रतिवेशियोंमें विचित्र सौभाग्यसे व्याप्त नहीं हो जाता।

एक ओर गृह-धर्मका कल्याण-बन्धन, दूसरी ओर निर्लिप्त आत्माका बन्धन-मोचन, यही दोनों भारतवर्षके विशेष भाव हैं। संसारमें भारतवर्ष बहुतोंके साथ बहुतेरे सम्बन्धोंसे सम्बद्ध है; उनमेंसे वह किसीका त्याग नहीं कर सकता। पर तपस्याके आसनपर भारतवर्ष अकेला है। किन्तु दोनों भावोंमें परस्पर समन्वयका अभाव नहीं है। दोनोंमें जाने-आनेका मार्ग, आदान-प्रदानका सम्पर्क है और यही कालिदासने अपने शाकुन्तल और कुमारसम्भवमें दिखलाया है। तपोवनमें सिंह-शिशुके साथ नर-शिशुका जैसे क्रीडा-कौतुक है, वैसे ही उनके काव्य-तपोवनमें योगी और गृहीके भाव समन्वित हैं। कामकी करतूतने उस सम्बन्धको विच्छिन्न करनेकी चेष्टा की थी; इसीसे कविने उसपर वज्र-निपात करके, तपस्याद्वारा कल्याणमय गृहके साथ अनासक्त तपोवनका सुपवित्र सम्बन्ध फिरसे स्थापित किया है। कविने आश्रमकी भित्तिपर गृहस्थ-मान्दिर प्रस्तुत किया है और कामदेवके हठात् आक्रमणसे नर-नारीके पवित्र सम्बन्धका उद्धार कर उसे तपःपूत और निर्मल योगासनके ऊपर प्रतिष्ठित किया है। भारतीय शास्त्रोंमें नर-नारियोंका संयत सम्बन्ध कठिन अनुशासनके रूपमें आदिष्ट है और वही कालिदासके काव्योंमें सौन्दर्य्यके सामानोंसे सुसंगठित हुआ है। यह सौन्दर्य्य श्री, ह्री और कल्याणसे उद्भासित है; गम्भीरताकी ओरसे नितान्त एकाकी और व्याप्तिकी ओरसे विश्वका आश्रयस्थल है। वह त्यागसे परिपूर्ण, दुखसे चरितार्थ और धर्मसे ध्रुव——निश्चित है। इसी सौन्दर्यसे नरनारियोंके दुर्निवार और दुर्गम प्रेमके प्रलयकारी वेगने अपनेको संयत करके मङ्गलरूपी महासमुद्रमें परम स्थिरता प्राप्त की है। इसीसे वह संयत प्रेम बन्धन-विहीन दुर्द्धर्ष प्रेमकी अपेक्षा महान् और आश्चर्यजनक है।

---

# शकुन्तला

शेक्सपियरके टेम्पेस्ट नाटकके साथ कालिदासके शकुन्तला नाटककी तुलना करनेका भाव मनमें सहज ही उदित होता है। इनके बाह्य सादृश्य और आन्तरिक असादृश्य, आलोचना करनेके उपयुक्त विषय हैं।

निर्जनलालिता मिराण्डाके साथ फर्डिनैण्डका प्रणय वैसा ही है, जैसा तापसकुमारी शकुन्तलाके साथ दुष्यन्तका। घटनास्थलमें भी एक ओर समुद्रवेष्टित द्वीप है, तो दूसरी ओर तपोवन।

इस प्रकार दोनोंके कथाभागमें एकता है, किन्तु इन दोनोंके काव्यरसका स्वाद एकदम भिन्न है। इसका अनुभव पढ़नेसे ही हो सकता है।

यूरोपके महाकवि गेटेने एक ही पद्यमें शकुन्तलाकी समालोचना की है*। उन्होंने (समालोचनाके लिए) काव्यको खण्ड खण्ड करके विच्छिन्न नहीं किया है। यद्यपि उनका पद्य दीप-वर्तिकाकी शिखाकी

---

* Wouldst thou the young years,
blossoms and fruits of its decline,
And all by which the soul is
charmed, enraptured, feasted, fed;
Wouldst thou the earth and
heaven itself in one sole name combine!
I name thee, O, Sakuntala!
and all at once is said.

*( Translated by Mr. Eastwick )*

भाँति छोटा है, परंतु दीप-शिखाकी भाँति ही वह सारी शकुन्तलाको क्षण भरमें उद्भासित करके दिखा भी देता है। उन्होंने एक ही वाक्यमें कहा है; यदि कोई तरुण वत्सरके फूल और परिणत वत्सरके फल, यदि कोई मर्त्य और स्वर्ग, एकत्र देखना चाहे, तो वे उसे शकुन्तलामें प्राप्त होंगे।

बहुतसे लोग इसे कविका उच्छ्वासमात्र समझ उसकी ओर गहरा ध्यान नहीं देते। वे साधारणतः इसका अर्थ यही समझते हैं कि शकुन्तला नाटक अतीव उपादेय है। किन्तु यह बात नहीं है; गेटेका यह पद्य आनन्दकी अत्युक्ति ही भर नहीं है; यह एक रसज्ञका विचार है। इसमें कुछ विशेषता है। कविने इसे विशेष भावसे ही कहा है। शकुन्तलामें एक गम्भीर परिणतिका भाव है; वह परिणति फूलकी फलमें, मर्त्यकी स्वर्गमें और स्वभावकी धर्ममें है। मेघदूतमें जैसे पूर्व-मेघ और उत्तर-मेघ हैं, अर्थात् पूर्व-मेघमें पृथिवीके विचित्र सौन्दर्य्यका पर्यटन करके उत्तर-मेघमें अलकापुरीके नित्य सौन्दर्य्यमें उत्तीर्ण होना पड़ता है, वैसे ही शकुन्तलामें एक पूर्व-मिलन और दूसरा उत्तर-मिलन है। प्रथम अंकके मर्त्यलोकसम्बन्धी चञ्चल, सौन्दर्य्यमय तथा विचित्र पूर्व-मिलनसे, स्वर्गके तपोवनमें, शाश्वत तथा आनन्दमय उत्तर-मिलनकी यात्रा ही शकुन्तला नाटक है। यह केवल किसी विशेष भावकी अवतारणा नहीं है और न विशेषतः किसी चरित्रका विकास ही है। बल्कि यह है सारे काव्यको एक लोकसे अन्य लोकमें ले जाना और प्रेमको स्वभाव-सौन्दर्य्यके देशसे मङ्गल-सौन्दर्य्यके अक्षय स्वर्गधाममें उत्तीर्ण कर देना। इस प्रसङ्गकी आलोचना विस्तार रूपसे एक दूसरे ही प्रबन्धमें की गई है, इससे हम यहाँ उसकी पुनरुक्ति नहीं करना चाहते।

स्वर्ग और मर्त्यका जो यह मिलन है, उसे कालिदासने सहज ही सम्पादित कर लिया है। उन्होंने फूलको इस सहज भावसे फलमें परिणत कर दिया है, मर्त्यकी सीमाको उन्होंने इस प्रकार स्वर्गके साथ मिला दिया है कि बीचका व्यवहार किसीके दृष्टिगोचर नहीं होता। प्रथम अंकमें शकुन्तलाके पतनके बीच मर्त्यलोककी कोई बात छिपाई नहीं गई है। उसमें वासनाकी कितनी प्रबलता है, इसको कविने दुष्यन्त और शकुन्तलाके व्यवहारसे स्पष्ट कर दिया है । यौवन-मद-मत्तताके हाव-भाव, लीला-चाञ्चल्य, परम लज्जाके साथ आत्म-प्रकाशका प्रबल संग्राम, आदि सभी बातोंको खोलकर रख दिया है। यह शकुन्तलाकी सरलताका निदर्शन है। अनुकूल अवसरमें इस भावावेशके आकस्मिक आविर्भावको रोकनेके लिए वह पहलेसे प्रस्तुत नहीं थी। उसने अपनेको दमन करनेके लिए—छिपा रखनेके लिए, कोई उपाय नहीं किया था। जो हरिणी व्याधको नहीं पहचानती, वह क्या उसके वाणोंसे बहुत देर तक कभी बच सकती है? शकुन्तला कामदेवको अच्छी तरह पहचानती नहीं थी, इसीसे उसका मर्मस्थान अरक्षित था। न तो कामदेवका और न दुष्यन्तका, किसीका भी उसने कभी अविश्वास नहीं किया। जिस जंगलमें हमेशा शिकार हुआ करता है, उस जंगलमें जिस प्रकार व्याधको आत्म-गोपनके लिए अधिक चेष्टा करनी पड़ती है, उसी प्रकार जिस समाजमें स्त्री-पुरुषोंका सहज ही सम्मिलन हुआ करता है, उस समाजमें कामदेवको बड़ी सावधानीके साथ अपनेको छिपाकर काम करना पड़ता है। परन्तु तपोवनकी हरिणी जिस भाँति शंकित नहीं रहती, उसी भाँति तपोवनकी बालिका भी सतर्क नहीं रहती।

शकुन्तलाका पराभव जिस प्रकार अत्यन्त सहज भावसे चित्रित हुआ है, उसी प्रकार पतन होनेपर भी उसका स्वाभाविक तथा अक्षुण्ण

सतीत्व भी बिना प्रयास ही प्रकट होता है। यह भी उसकी सरलताका एक निदर्शन है। जो कृत्रिम फूल घरकी शोभा बढ़ाते हैं, यदि उनकी धूल हर रोज न झाड़ी जाय, तो उनकी रंगत ख़राब हो जाती है। किन्तु जंगली फूलोंकी धूल झाड़नेवाला कोई आदमी नहीं रहता। वे खुली हवामें रहते हैं; उनमें धूल लगती है, तो भी वे सहज ही अपनी सुन्दरता और निर्मलता बनाये रहते हैं। शकुन्तलाके भी धूल लगी थी। वह इस बातको जान भी नहीं सकी थी। वह जंगलकी सरला मृगीकी भाँति, निर्झरोंकी जल-धाराकी भाँति, मलिनताके सम्पर्कमें रहनेपर भी बिना प्रयास ही अपनी निर्मलता बनाये हुए थी।

कालिदासने अपनी इस आश्रमपालिता नवयौवनशालिनी शकुन्तलाको संशयशून्य स्वभावके मार्गमें विचरण करनेको छोड़ दिया है; अन्त तक उसके इस स्वभावमें बाधा नहीं पहुँचाई। फिर इसी शकुन्तलाको अन्यत्र शान्तप्रकृति, दुःख-सहनशील, नियमचारिणी और सतीधर्मकी आदर्शस्वरूपिणी बनाकर चित्रित किया है। एक ओर तो वह तरु-लता-फल-पुष्पकी भाँति आत्मविस्मृत हुई स्वभाव-धर्मके अनुगत दिखलाई पड़ती है और दूसरी ओर एकाग्र, तपःपरायण और कल्याण-धर्मके शासनमें एकान्त भावसे नियन्त्रित चित्रित की गई है। उसकी आन्तरिक नारी-प्रकृति संयत और सहिष्णु है। कालिदासने अपने विचित्र रचना-कौशलसे अपनी नायिकाको, लीला और धैर्य, स्वभाव और नियम, तथा नदी और समुद्रके ठीक संगमपर खड़ा कर दिया है। उसके पिता ऋषि और माता अप्सरा है; व्रत-भङ्गसे उसका जन्म और तपोवनमें उसका लालन-पालन हुआ है। तपोवन एक ऐसा स्थान है, जहाँ स्वभाव और तपस्याका, सौन्दर्य्य और संयमका, एकत्र संयोग हुआ है। वहाँ समाजका कृत्रिम विधि-विधान नहीं है, पर धर्मके कठोर नियम विराज-

मान हैं। गान्धर्व विवाह भी वैसा ही व्यापार है; उसमें उद्दाम प्रकृति भी है और विवाहका सामाजिक बन्धन भी। बन्धन और अबन्धनके संगम-स्थलपर स्थापित होनेहीसे शकुन्तला नाटकमें एक अपूर्व विशेषता झलक रही है। उसके सुख-दुःख, संयोग और वियोग, सभी कुछ इन्हीं दोनोंके घात-प्रतिघात हैं। गेटेने क्यों अपनी समालोचनामें शकुन्तलाके इन दोनों भिन्न भिन्न भावोंको एकत्र समाविष्ट किया है, यह यदि अच्छी तरह मनोनिवेशपूर्वक देखा जाय, तो समझमें आ सकता है।

टेम्पेस्टमें यह भाव नहीं है। कैसे रहेगा? शकुन्तला सुन्दरी है और मिराण्डा भी। क्या इसीसे दोनोंमें अविकल सादृश्यकी कोई प्रत्यशा कर सकता है? दोनोंकी अवस्था, घटना और प्रकृतिमें बड़ा अन्तर है। मिराण्डा बचपनसे ही जैसे निर्जन स्थानमें लालित-पालित हुई है, वैसे शकुन्तला निर्जनतामें नहीं रही। मिराण्डा केवल पिताके संसर्गमें ही बड़ी हुई है, इससे उसकी प्रकृति स्वभावतः विकसित होनेका अवसर नहीं पा सकी। शकुन्तलाने अपनी हमजोलीकी सखियोंके संगमें ही दिन बिताये हैं; उन्होंने पारस्परिक उत्ताप, भावोंके आदान-प्रदान, हँसी-दिल्लगी और बातचीतसे स्वाभाविक विकास पाया है। शकुन्तला यदि दिन-रात कण्व ऋषिके ही साथ रहती, तो उसके उन्मेष-विकासमें बाधा पहुँचती। फिर उसकी सरलता अज्ञतामें परिणत हो जाती और वह स्त्री-ऋष्यशृङ्ग बन जाती। वस्तुतः शकुन्तलाकी सरलता स्वाभाविक है और मिराण्डाकी अस्वाभाविक। दोनोंकी अवस्थाके भेदके अनुसार वह सङ्गत है। मिराण्डाकी भाँति शकुन्तलाकी सरलता अज्ञतासे घिरी नहीं है, इस बातको हम पहले ही अंकमें पढ़ चुके हैं। शकुन्तलाका जब नवयौवनोन्मेष हुआ है, तब कौतुकप्रिय सखियोंने उसे इसका ज्ञान भी करा दिया है, उसने लज्जाकी भी शिक्षा पाई है।

किन्तु ये सब बातें बाहरकी हैं। उसकी सरलता बड़ी गम्भीर और पवित्रता आन्तरिक है। बाहरी अभिज्ञता उसे कुछ भी नहीं है, इस बातको कविने अन्त तक दिखलाया है। शकुन्तलाकी सरलता आभ्यन्तरिक है। वह सांसारिक बातें कुछ भी नहीं जानती, ऐसी बात नहीं है। क्योंकि तपोवन समाजकी सीमासे बाहर नहीं है। तपोवनमें भी गृह-धर्मका पालन होता है। बाहरी बातोंसे शकुन्तला अपरिचित है, तो भी वह अज्ञ नहीं कही जा सकती। उसके हृदयमें विश्वासका सिंहासन है। उसी विश्वासनिष्ठ सरलताने उसे क्षण भरके लिए पतित बनाया था, किन्तु सदाके लिए उसका उद्धार भी कर दिया। इसी विश्वासनिष्ठ सरलतासे वह दारुण विश्वासघातका आघात सह सकी; धीरता, क्षमा और कल्याणसे विमुख न हो सकी। मिराण्डाकी सरलताकी कभी अग्नि-परीक्षा नहीं हुई; संसार-ज्ञानसे उसको आघात नहीं हुआ। हमने मिराण्डाको प्रथमावस्थामें ही देखा है और शकुन्तलाको कविने प्रथमावस्थासे लेकर अन्तिम अवस्था तक दिखलाया है।

ऐसी दशामें हम भी इस बातको मानते हैं कि इनकी तुलनात्मक समालोचना व्यर्थ है। इन दोनों नाटकोंको एक साथ रक्खें, तो दोनोंमें एकताकी अपेक्षा भिन्नता ही विशेष प्रतीत होगी। हम इसी विभिन्नताकी आलोचनासे इन नाटकोंको स्पष्टतः समझानेकी चेष्टा करेंगे। इसी लिए इस प्रबन्धका लिखना आरम्भ हुआ है।

हम मिराण्डाको एक ऐसे द्वीपमें देखते हैं, जहाँ जन-मानवका नाम नहीं, जो तरङ्गोंके आघातोंसे मुखर तथा पहाड़ोंसे बीहड़ बन गया है। पर उस द्वीपकी प्रकृतिके साथ उसकी कोई घनिष्ठता नहीं दिखलाई पड़ती। उस भूमिकी गोदसे, जिसमें वह पली है, उसे हटाकर यदि दूसरी जगह रक्खें, तो भी उसका आकर्षण उस भूमिकी ओर होना सम्भव

नहीं है। वहाँ मिराण्डाका सहवास मनुष्योंसे नहीं हुआ है, और यही अभाव उसके चरित्रमें प्रतिफलित हुआ है। वहाँके समुद्र-पर्वतोंके साथ उसके अन्तःकरणका कोई भावात्मक योग नहीं दिखलाई पड़ता। निर्जन द्वीपको हम घटनाक्रमसे कविके वर्णनमें ही देखते हैं, किन्तु मिराण्डाके भीतर नहीं। यह द्वीप केवल काव्यके कथाभागके लिए ही आवश्यक है, चरित्रके लिए नहीं।

शकुन्तलाके सम्बन्धमें यह बात नहीं कही जा सकती। शकुन्तला तपोवनका एक अंग हो गई है। तपोवन अगर छोड़ दिया जाय, तो केवल नाटकीय कथाका ही व्याघात नहीं होगा, बल्कि शकुन्तला भी अधूरी रह जायगी। शकुन्तला मिराण्डाकी तरह स्वतन्त्र अलग नहीं है; वह अपने चारों ओर एकात्म-भावसे सम्बद्ध है। उसका मधुर चरित्र अरण्यकी छाया और माधवी-लताकी पुष्प-मंजरीके साथ व्याप्त और विकसित हुआ है, पशु-पक्षियोंके अकृत्रिम सौहार्दसे अत्यन्त आकृष्ट हुआ है। कालिदासने अपने नाटकमें जिस वाह्य प्रकृतिका वर्णन किया है, उसे बाहर नहीं रक्खा है बल्कि शकुन्तलाके चरित्रमें ही उसका उन्मेष किया है। इसी लिए कहा जा सकता है कि शकुन्तला अपने काव्यगत परिवेष्टनसे बाहर नहीं की जा सकती।

मिराण्डाका परिचय फर्डिनैण्डके साथ प्रणय-व्यापारमें ही हुआ है। तूफानमें नावके डूब जानेसे हतभागे यात्रियोंके लिए जो वह व्याकुल हुई, केवल उसीसे उसके व्यथित हृदयकी करुणाका परिचय प्राप्त होता है। परन्तु शकुन्तलाका परिचय और और स्थानोंमें भी पाया जाता है। दुष्यन्तके दर्शन न होने पर भी उसका माधुर्य विचित्र रूपसे प्रकाशित होता है। उसकी हृदय-लतिकाने चेतन अचेतन सभीको स्नेहके ललित-बन्धनसे बाँध रक्खा है। जल-सिंचनके साथ साथ सहोदरके स्नेहसे

भी उसने तपोवनके वृक्षोंको अभिषिक्त किया है। उसने नवकुसुमयौवना वनज्योत्स्नाको स्निग्ध दृष्टिसे अपने कोमल हृदयमें स्थान दिया है। शकुन्तला जब तपोवन छोड़कर पति-गृहको जाने लगी, तब पद-पदपर उसका मन तपोवनकी ओर खिंचता रहा, पद-पदपर उसके छोड़नेका दुःख दुगुना होता गया। मनुष्यसे वनके विच्छेदका ऐसा करुणापूर्ण मार्मिक वर्णन संसारके साहित्यमें यदि कहीं देखा गया, तो केवल शकुन्तलाके चतुर्थ अंकमें ही। इस काव्यमें स्वभाव और धर्मके नियमका जैसा मिलन है, वैसा ही मिलन मनुष्य और प्रकृतिका भी है। भिन्न भिन्न भावोंमें ऐसे एकान्त मिलन ( समन्वय ) का भाव भारतवर्षको छोड़ और किसी देशमें सम्भव नहीं।

टेम्पेस्टमें बाह्य प्रकृतिने मनुष्यका आकार 'एरियल' के रूपमें धारण किया है, किन्तु तो भी वह मनुष्यके आत्मीय भावसे दूर ही रह गई है। मनुष्यके साथ उसका अनिच्छुक भृत्यका सम्बन्ध है। वह स्वाधीन होना चाहती है, किन्तु मानव-शक्तिके द्वारा पीड़ित—आबद्ध होकर भृत्यकी भाँति काम करती है। उसके हृदयमें न तो स्नेह है और न आँखोंमें आँसू। मिराण्डाका स्त्री-हृदय भी उसकी ओर स्नेह-प्रवण नहीं होता। द्वीपसे यात्रा करनेके समय प्रॉस्पेरो और मिराण्डाके साथ एरियलका स्निग्ध बिदाकालीन मधुर सम्भाषण नहीं हुआ। टेम्पेस्टमें पीड़न, शासन और दमन है; शकुन्तलामें प्रीति, शान्ति और सद्भाव। टेम्पेस्टमें प्रकृतिने मनुष्यका आकार धारण किया है, तो भी वह उसके साथ हृदयका सम्बन्ध नहीं जोड़ सकी। परन्तु शकुन्तलामें वृक्ष-लता, पशु-पक्षी, सब आत्मस्वरूपकी रक्षा करते हुए भी मनुष्यके साथ मधुर आत्मीय-भावसे मिल गये हैं।

शकुन्तलाके आरम्भमें ही धनुर्बाणधारी राजाको जब इस प्रकार निषेध

किया गया कि "भो भो राजन्, आश्रममृगोऽयं न हन्तव्यो न हन्तव्यः" तब शकुन्तला-काव्यका एक प्रधान सुर झनझना उठा। यह निषेध आश्रम-मृगोंके साथ साथ तापसकुमारी शकुन्तलाको भी करुणाच्छादनसे आच्छादित कर देता है। ऋषि कहते हैं—

**नाहिन या मृग मृदुल तन, लगन जोग यह बान।**
**ज्यों फूलनकी राशिमें, उचित न धरन कृसान॥**
**कहाँ दीन हरिनानके, अति ही कोमल प्रान।**
**ये तेरे तीखे कहाँ, सायक वज्रसमान॥**

यह बात शकुन्तलाके सम्बन्धमें भी कही जा सकती है। शकुन्तलापर भी राजाका प्रणय-बाण-प्रहार अत्यन्त दारुण है। प्रणय-व्यापारमें राजा परिपक्क और कठिन हैं; कितने कठिन हैं, इसका परिचय अन्यत्र मिलेगा; और इस आश्रमपालिता बालिकाकी अनभिज्ञता और सरलता बड़ी ही सुकुमार और करुणापूर्ण है। हाय! जिस भाँति कातर वाक्योंसे मृग रक्षणीय बतलाये जाते हैं, वैसे ही शकुन्तला भी है। क्यों कि यहाँ दोनों ही अरण्यवासी हैं। 'द्वौ अपि अत्र आरण्यकौ।'

मृगके उद्देश्यसे कही हुई इस करुण-वाणीकी प्रतिध्वनि ज्यों ही विलीन होती है, त्यों ही वल्कलवसना, तापसकन्या शकुन्तला सखियोंके साथ तरु-लताके थालेंमें जल डालती हुई सहोदर-प्रतिम तरुओं और भगिनीभूता लताओंके बीच दैनिक स्नेह-सेवाके कर्ममें लगी हुई दिखलाई पड़ती है। केवल वल्कल-वसनसे ही नहीं, भावभङ्गीसे भी शकुन्तला एक तरुलता ही सी मालूम होती है। इसीसे दुष्यन्त कहते हैं—

**अधर रुचिर पल्लव नये, भुज कोमल जिमि डार।**
**अंगनमें यौवन सुभग, लसत कुसुम उनहार॥ ***

---

* **टीप**—"अधरः किसलय-रागः कोमल-शाखानुकारिणौ बाहू।
कुसुमिव हि लोभनीयं यौवनमङ्गेषु सन्नद्धम्॥"

नाटकके प्रारंभमें ही, एकांत पुष्प-पल्लवोंके बीच दैनिक आश्रम-धर्म, अतिथि-सेवा, सखी-स्नेह और विश्व-वात्सल्यके साथ शान्ति-सौन्दर्य-सम्मिलित एक संपूर्ण जीवन हमारे सम्मुख दिखाई देता है। वह ऐसा अखण्डनीय और ऐसा आनन्दप्रद है कि हम सशंक हो जाते हैं और डर लगता है कि आघात पाकर वह कहीं नष्ट न हो जाय। इसीसे दुष्यन्तको दोनों बाहु उठाकर प्रतिरोध करनेकी इच्छा होती है कि "मत मारो, मत मारो राजन्, इस परिपूर्ण सौन्दर्यको नष्ट न करो।"

जब देखते देखते दुष्यन्त और शकुन्तलाका प्रणय प्रगाढ़ होने लगा, तब प्रथम अंकके अंतमें, अचानक नेपथ्यसे एक आर्त-रव सुनाई पड़ा कि "हे तपस्वियो, अपने तपोवनके प्राणियोंकी रक्षा करो। मृगया-विहारी राजा दुष्यन्त आ पहुँचा।"

यह सब तपोवनकी भूमिका ही करुण-क्रन्दन है, और उस तपोवनके प्राणियोंमें शकुन्तला भी एक है; किन्तु उसकी रक्षा न हो सकी।

उसी तपोवनसे जब शकुन्तला जाने लगी, तब कण्वने पुकारकर कहा—हे तपोवनके तरुओ—

**पाछे पीवति नीर जो, पहले तुमकों प्याय।**<br>
**फूल पात तोरति नहीं, गहनेहूके चाय॥**<br>
**जब तुव फूलनके दिवस, आवत हैं सुखदान।**<br>
**फूली अंग समाति नहिं, उत्सव करति महान॥**<br>
**सो यह जाति शकुन्तला, आज पियाके गेह।**<br>
**आज्ञा देहु पयानकी, तुम सब सहित सनेह॥ +**

---

+ "पातुं न प्रथमं व्यवस्यति जलं युष्मास्वपीतेषु या<br>
नादत्ते प्रियमण्डनापि भवतां स्नेहेन या पल्लवम्॥<br>
आद्ये वः कुसुमप्रसूतिसमये यस्या भवत्युत्सवः<br>
सेयं याति शकुंतला पतिगृहं सर्वैरनुज्ञायताम्॥"

चेतन और अचेतन, सभीके साथ ऐसी आन्तरिक आत्मीयता, ऐसी प्रीति और ऐसा कल्याणका बन्धन अन्यत्र दुर्लभ है।

शकुन्तला कहती है "अयि प्रियंवदे, आर्यपुत्रको देखनेके लिए मेरे प्राण व्याकुल हैं; तो भी आश्रमको छोड़ जानेमें मेरे पैर आगेको नहीं बढ़ते।" प्रियंवदा उत्तर देती है—"तुम्हीं केवल तपोवनके विरहसे कातर होतीं हो सो बात नहीं, तुम्हारे निकट-वियोगसे तपोवनकी भी तुम्हारी सी ही हालत है"—

**लेत न मुखमें घास मृग, मोर तजत नृत जात।**
**आँसू जिमि डारति लता, पीरे पीरे पात॥**

शकुन्तलाने कण्वसे कहा कि "तात, यह कुटीरके आसपास घूमनेवाली गर्भालसा हरिणी जब बच्चा जने, तब एक आदमी मेरे पास यह प्रिय संवाद कहनेके लिए भेज देना।"

कण्वने उत्तर दिया—"मैं यह कभी न भूलूँगा।"

फिर पीछेसे बाधा पाकर शकुन्तला कहती है कि "अरे! पीछेसे मेरा कपड़ा यह कौन खींच रहा है।"

कण्वने कहा—वत्से,

**कहुँ दाभनतें मुख जाको छिद्यो जब तू दुहिता लखि पावति ही।**
**अपने करतें तिन घावनपै तुही तेल हिंगोट लगावति ही॥**
**जिहि पालनके हित धान-समा नित मूठि हि मूठि खवावति ही।**
**मृगछौना सो क्यों पग तेरे तजे जेहि पूतलौं लाड़ लड़ावति ही॥**

शकुन्तलाने मृगसे कहा कि "रे बेटा, तू साथ-छोड़नेवाली मुझ माया-ममताहीन माताका पीछा क्यों कर रहा है! जनमते ही जब

---

* यस्य त्वया व्रणविरोपणमिंगुदीनां,
तैलं न्यषिच्यत मुखे कुशसूचिविद्धे।
श्यामाकमुष्टिपरिवर्धितको जहाति,
सोयं न पुत्र-कृतकः पदवीं मृगस्ते॥

तेरी माँ मर गई थी, तभीसे मैंने तुझे पालन-पोसकर बड़ा बनाया है। अब मैं जाती हूँ। अबसे पिताजी ही तेरी देख-रेख करेंगे। तू लौट जा।"

इसी प्रकार तपोवनके तरु-लता-पशु-पक्षियोंसे बिदा होकर रोती रोती शकुन्तला तपोवनसे बाहर निकल पड़ी।

लताके साथ फूलका जो सम्बन्ध है, तपोवन और शकुन्तलाका भी वही स्वाभाविक सम्बन्ध है।

अनुसूया और प्रियंवदा जैसी हैं, कण्व जैसे हैं, दुष्यन्त जैसे हैं, तपोवनकी प्रकृति भी अभिज्ञान-शाकुन्तल नाटकमें वैसी ही एक विशेष पात्र है। मूक प्रकृतिको नाटकके भीतर ऐसा प्रधान और ऐसा आवश्यक स्थान दिया जा सकता है; यह संस्कृत साहित्यके सिवा और कहीं भी देखा नहीं जाता। प्रकृतिको मनुष्य बनाकर और उसके मुँहसे बातें कराकर रूपक रचा जा सकता है; पर प्रकृतिको प्रकृति ही रखकर उसे ऐसा सजीव, ऐसा प्रत्यक्ष, ऐसा व्यापक और ऐसा अन्तरङ्ग बनाकर उससे नाटकके इतने कार्य सिद्ध करना, यह अन्यत्र नहीं देखा जाता। जहाँके लोग बाह्य प्रकृतिको दूर—परे समझते हैं, और जहाँ अपने चारों ओर दीवार खड़ी करके अपनेको संसारसे सर्वत्र अलग कर रखते हैं, वहाँके साहित्यमें ऐसी सृष्टि सम्भव नहीं।

उत्तर-चरितमें भी प्रकृतिके साथ मनुष्यका ऐसा ही आत्मीयके समान सौहार्द देखा जाता है। राजप्रासादमें भी रहकर सीताके प्राण उसी अरण्यके लिए लालायित हैं। वहाँ तमसा नदी और वसन्तकी वन-लक्ष्मी, ये ही दोनों सीताकी प्रिय सखियाँ हैं; मयूर और करि-शिशु उनके कृतक-पुत्र हैं और तरु-लताएँ ही प्रिय परिवार है।

टेम्पेस्ट नाटकमें मनुष्य, संसारमें मंगल-भाव और प्रीति-योग प्रसारित करके अपनेको बड़ा नहीं बना सका है, बल्कि संसारको तुच्छ करके, दमन करके, अपनेको उसका स्वामी बनानेको उत्सुक हुआ है। वस्तुतः आधिपत्यहीके लिए द्वन्द्व-विरोध और प्रयास टेम्पेस्टके मूल-भाव हैं। उसमें प्रॉस्पेरो स्वराज्याधिकारसे वंचित होकर प्रकृति-राज्यके ऊपर मन्त्रबलसे कठोर आधिपत्य फैला रहा है। आसन्न-मृत्युके मुखसे किसी तरह निकलकर जो कई एक प्राणी बचे हैं, उनमें भी उस शून्यप्राय द्वीपमें आधिपत्य जमानेके लिए षड्यन्त्र, विश्वासघातकता और गुप्त हत्याकी ही चेष्टा देख पड़ती है। परिणाममें इसकी निवृत्ति हुई; किंतु अन्त हो गया, यह बात कोई नहीं कह सकता। भय, शासन और अवसरके अभावसे दानव-प्रकृति, पीड़ित कैलिबानकी भाँति, रुक तो गई, किन्तु उसके दाँतोंकी जड़में और नखोंके अग्रभागमें विष बना ही रह गया। जिसकी जो प्राप्य सम्पत्ति थी वह उसे मिल गई; किन्तु सम्पत्ति-लाभ तो बाह्य लाभ है। वह धनियोंका लक्ष्य हो सकता है, पर काव्यका अन्तिम परिणाम नहीं होना चाहिए।

टेम्पेस्ट नाटकका जैसा नाम है, वैसा ही उसके भीतरका व्यापार भी है। मनुष्यका प्रकृतिके साथ विरोध है, मनुष्यका मनुष्यके साथ विरोध है, और उस विरोधकी जड़ है क्षमता या शक्ति-लाभका प्रयत्न। टेम्पेस्टमें आद्यन्त विक्षोभ ही विक्षोभ है।

मनुष्यकी दुर्बोध्य प्रवृत्तियाँ ऐसे ही उत्पाद खड़े किया करती हैं। शासन, दमन और पीड़नसे इन प्रवृत्तियोंको हिंस्र पशुओंकी भाँति संयत करके रखना पड़ता है। किन्तु इस प्रकार बलके द्वारा बलको दबा रखना केवल समयानुसार काम निकाल लेना है। हमारी आध्या-त्मिक प्रकृति इसको परिणाम कभी नहीं समझ सकती। सौन्दर्यसे,

प्रेमसे, मंगलसे, पापको एक दम समूल नष्ट कर देना ही हमारी आध्यात्मिक प्रकृतिकी एक मात्र आकांक्षा है। संसारमें इसके बाधक अनेक विघ्न हैं, तथापि इसकी ओर मनुष्योंका एक आन्तरिक लक्ष्य है। साहित्य उसी लक्ष्य-साधनके निगूढ़ प्रयत्नको प्रकाशित करता है; वह अच्छेको सुन्दर, श्रेयको प्रिय, और पुण्यको हृदयकी सम्पत्ति बनाये रखता है। फलाफलनिर्णय और विभीषिका या भयप्रदर्शनसे हमें कल्याणके मार्गमें प्रवृत्त करना, बाहरी बात है। यह दण्डनीति और धर्मनीतिका आलोच्य विषय हो सकता है; किन्तु जो उच्च साहित्य है, वह अन्तरात्माके आन्तरिक पथका अवलम्बन करना चाहता है। वह स्वभाव-निःसृत अश्रुजलसे कलङ्क मोचन करता है, आन्तरिक घृणासे पापको दग्ध करता है; और स्वाभाविक आनन्दसे पुण्यका स्वागत करता है।

कालिदासने भी अपने नाटकमें दुरन्त प्रवृत्तिके दावानलको अनुतप्त हृदयके अश्रु-वर्षणसे शान्त किया है। किन्तु उन्होंने प्रवृत्तिकी व्याधिको लेकर वर्णनका बाजार गर्म नहीं किया, केवल उसका आभास दिया है और उसपर एक परदा डाल दिया है। ऐसी जगह संसारमें जो स्वभावतः हो सकता है, वह दुर्वासाके शापसे संघटित किया गया है। नहीं तो वह ऐसा निष्ठुर क्षोभजनक दृश्य होता कि उससे सारे नाटककी शृङ्खला भंग हो जाती, शान्तिका नाम मिट जाता और शकुन्तलामें कालिदासका जिस रसकी ओर लक्ष्य था, वह इस अत्युत्कट आन्दोलनमें सुरक्षित नहीं रह सकता। दुःख और वेदनाको उन्होंने समान भावसे ही रहने दिया है, केवल राजाकी बीभत्स कायरताको छिपा छोड़ा है।

किन्तु कालिदासने उस आवरणमें भी एक ऐसा छेद रख छोड़ा है

जिससे उस कायरताकी—पापकी झलक दिखाई दे जाती है। वही प्रसंग आगे छेड़ा जाता है।

पाँचवें अंकमें शकुन्तलाका प्रत्याख्यान है। उस अंकके प्रारम्भमें ही कवि राजाकी प्रणय-रंगभूमिको यवनिका हटाकर दिखलाते हैं। राज-प्रेयसी हंसपादिका, नेपथ्यके भीतर, अपनी संगीत-शालामें बैठी हुई आप ही आप गा रही है—

**भ्रमर, तुम मधुके चाखनहार**
**आमकी रसभरी मृदुल मंजरी, तासों प्रीति अपार।**
**रहसि रहसि नित रस लैबेकों, धावत है करि नेम।**
**क्यों कल आई, कमल बसेरे, कित भूले प्यारीको प्रेम॥**

राजाके अन्तःपुरसे सुन पड़नेवाला यह करुणापूर्ण गान हमारे हृदयको बड़ा ही व्यथित करता है। विशेष व्यथित करनेका कारण यह है कि इसके पहले ही हमारे हृदयपर शकुन्तलाके साथ राजा दुष्यन्तकी प्रेम-लीलाका अधिकार बना हुआ है। इसके पूर्वके अंकमें शकुन्तला, ऋषिवृद्ध कण्वका आशीर्वाद और सारे तपोवनके मङ्गला-चरणको ग्रहण करके, बड़े ही स्निग्ध-करुण और बड़े ही पवित्र-मधुर भावसे पतिगृहको जा रही थी। उसके लिए जो प्रेमका—जो गृहका चित्र हमारे आशापटपर अङ्कित हो उठता है, उसपर अगले अंकके आरम्भमें ही धब्बा पड़ जाता है।

विदूषकने पूछा "इस गानका मतलब क्या समझे?" राजाने मन्द हासके साथ उत्तर दिया "सकृत्कृतप्रणयोऽयं जनः"—इस-को हमने एक ही बार प्रणय करके छोड़ दिया है; इसीसे, देवी वसुमतीसे प्रेम करनेके कारण, हम इसके भारी तिरस्कारके पात्र हो गये हैं। मित्र माधव्य, हमारा नाम लेकर हंसपादिकासे कहना कि

'तुमने बड़े ही सुन्दर ढंगसे हमारा तिरस्कार किया है।'........जाओ, इस बातको अच्छी तरह नागरिक-वृत्तिद्वारा कह देना।"

पञ्चम अंकके आरम्भमें राजाके चपल प्रणयका यह परिचय निरर्थक नहीं है। इससे कविने अपने निपुण कोशलद्वारा यह प्रकट किया है कि दुर्वासाके शापसे जो घटना घटी है, उसका बीज राजाके स्वभावमें भी विद्यमान था। काव्यकी दृष्टिसे जो घटना आकस्मिक दिखाई गई है, वह प्राकृतिक ही है।

चतुर्थ अंकसे हम सहसा पञ्चम अंकमें एक और ही तरहकी हवामें आ पड़ते हैं। अब तक हम मानो एक मानस-लोकमें थे। वहाँके जो नियम थे, वे यहाँके नियम नहीं हैं। उस तपोवनका सुर यहाँके सुरसे कैसे मिल सकता है? वहाँ जो घटना सहज-सुन्दर भावसे अनायास ही संघटित हुई थी, यहाँ उसकी क्या दशा होगी, यह सोचकर बड़ी आशंका होती है। इसीसे पञ्चम अंकके प्रारम्भमें ही नागरिक-वृत्तिके बीच जब देखा कि यहाँका हृदय बड़ा ही कठिन है, प्रणय बड़ा ही कुटिल है और मिलनका मार्ग सहज नहीं है, तब हमारे उस वनका सौन्दर्य-स्वप्न नष्ट सा हो चला। ऋषि-शिष्य शार्ङ्गरवने राजभवनमें पैठते ही कहा—"जान पड़ता है, जैसे हम आगसे घिरे हुए घरमें आ गये हैं।" शारद्वतने कहा कि "स्नान किये हुए आदमी जैसे तेल लगाये हुएको देखकर, पवित्र व्यक्ति अपवित्र व्यक्तिको देखकर, जाग्रत जन सुप्त जनको देखकर और स्वाधीन पुरुष बद्ध पुरुषको देखकर मनमें जो कुछ अनुभव करता है, वही भाव इन विषयी जीवोंको देखकर मेरे मनमें उपज रहा है।" वे एक स्वतन्त्र लोकमें आ पड़े हैं, यह सहज ही उन्हें अनुभव होने लगा। पञ्चम अंकके आरम्भमें ही कविने नाना प्रकारके आभासोंसे हमें

इस प्रकार गढ़ डाला है कि शकुन्तलाके त्यागकी घटनासे हमारे हृदयपर अकस्मात् आघात न पहुँचे। हंसपादिकाका सरल तथा करुण संगीत इस क्रूर काण्डकी भूमिका बन गया।

इसके अनन्तर जब अचानक वज्रके समान राजाके मुखसे प्रत्याख्यानकी बात शकुन्तलाके सिरपर फट पड़ी, तब वह तपोवन-कुमारी, विश्वासीके हाथसे वाणकी चोट खाई हुई हरिणीकी भाँति, आश्चर्य, भय और वेदनासे विह्वल होकर व्याकुल नेत्रोंसे देखने लगी। तपोवनकी पुष्प-राशिपर आग बरस गई। जो तपोवन, शकुन्तलाको बाहर और भीतर, छाया और सौन्दर्यसे छिपाये हुए रहता था, शकुन्तलाके बाहर भीतर जिस तपोवनके भाव विराजमान रहते थे, वह इस वज्राघातद्वारा शकुन्तलाके चारों ओरसे सदाके लिए बिदा हो गया। शकुन्तलाका कोई आवरण—आश्रय नहीं रहा। कहाँ पिता कण्व, कहाँ माता गौतमी, कहाँ अनुसूया और प्रियंवदा, कहाँ वह तरु-लता-पशु-पक्षियोंके साथ स्नेह-बन्धन और माधुर्य्य-संयोग, कहाँ वह सुन्दर शान्ति, और कहाँ वह निर्म्मल जीवन! शकुन्तलाके ये सब, कुछ ही क्षणके प्रचण्ड प्रलयाघातसे, विलुप्त हो गये, जिन्हें देख हमें स्तम्भित होना पड़ता है। नाटकके प्रथम चार अंकोंमें जो संगीत हो रहा था, वह क्षण भरमें विलीन हो गया।

इसके बाद शकुन्तलाके चारों ओर एक अपूर्व गम्भीर शान्ति और विरलता छा गई। जिस शकुन्तलाने अपने कोमल हृदयके प्रभावसे अपने आसपासके संसारको सब भाँति अपना लिया था, वह कैसी एकाकिनी हो गई! अपनी इस शून्यताको अपने दुःखोंसे ही पूर्ण करके शकुन्तला दिन बिताने लगी। कालिदास उसे फिर कण्वके आश्रममें नहीं ले गये, इससे उनके असामान्य कवित्वका परिचय मिलता

है। उसकी पूर्व परिचित वन-भूमिसे पहलेका सा मिलन अब सम्भव नहीं था। कण्वाश्रमसे यात्रा करनेके समय शकुन्तलाका तपोवनके साथ जो बाह्य सम्बन्ध था, वही विछिन्न हुआ था। किन्तु आज जब दुष्यन्तने अपने राजमहलसे उसे निकाल दिया, तब वह विच्छेद पूर्ण हो गया। पहलेकी शकुन्तला अब नहीं रही। अब संसारके साथ उसका पहला सम्बन्ध नहीं रहा। अब उसको पुराने सम्बन्धमें रखनेसे असामञ्जस्य प्रकट होता। इस समय इस दुःखिनीके लिए विशाल दुःखके उपयुक्त विरलता ही आवश्यक है। सखीहीन नूतन तपोवनमें शकुन्तलाके विरह-दुःखकी अवतारणा कालिदासने नहीं की। कविने मौन साधकर शकुन्तलाके चारों ओरकी नीरवता और शून्यताको हमारे चित्तमें भर दिया है। कवि यदि कण्वके आश्रममें शकुन्तलाको लौटाकर मौन भी साध लेते, तो भी आश्रम चुप नहीं रहता। वहाँकी तरुलताओंका क्रन्दन, सखियोंका विलाप आप ही आप हमारे हृदयमें प्रतिध्वनित होता रहता। किन्तु अपरिचित मारीच मुनिके तपोवनमें सब कुछ स्तब्ध, नीरव और शान्त है। वहाँ केवल विश्वविरहित शकुन्तलाका नियम-संयत, धैर्य-गम्भीर और अपरिमेय दुःख ही हमारे मानस-नेत्रोंके सम्मुख ध्यानासनपर विराजमान है। उस ध्यानमग्न दुःखके सम्मुख कवि एकाकी खड़े होकर अपने ओठोंपर उँगली रखे हुए हैं और इस निषेध-संकेतसे वे समस्त प्रश्नोंको नीरव और सारे संसारको दूर रक्खे हुए हैं।

इस समय दुष्यन्त पश्चात्तापसे दग्ध हो रहे हैं। यह पश्चात्ताप ही उनकी तपस्या है। पश्चात्ताप-पूर्वक शकुन्तलाके पानेमें ही शकुन्तलाकी प्राप्तिका गौरव है। अनायास ही हाथमें आना, पाना नहीं कहला सकता। मिलना या पाना इतना सहज नहीं है। यौवनमत्तताके आकस्मिक आवे-

गसे शकुन्तलाको हाथमें कर लेना सम्पूर्णतः उसका पाना नहीं कहा जा सकता। लाभ करनेकी उत्तम प्रणाली है साधना और तपस्या। जो अनायास ही प्राप्त हुआ था, वह अनायास ही नष्ट हो गया। जो आवेशासे मुट्ठीमें आता है, वह शिथिल भावसे गिर भी जाता है। इसीसे कविने यथार्थ—चिरन्तन भावसे परस्परकी प्राप्तिके लिए दुष्यन्त और शकुन्तलाको दीर्घ और दुःसह तपस्यामें प्रवृत्त किया। राजसभामें प्रवेश करते ही यदि दुष्यन्त शकुन्तलाको अपना लेते, तो शकुन्तला हंसपदिकाओंका दल बढ़ाकर अवरोध—राजमहलके एक भागमें स्थान पाती; जैसे और रानियाँ थीं, वैसे वह भी एक होती। बहुवल्लभ राजाकी ऐसी अनेक सुखलब्ध प्रेमिकाएँ हैं, जो क्षणिक सौभाग्यकी स्मृति लेकर ही अनादरके अन्धकारमें अनावश्यक जीवन बिता रही हैं—'सकृत्कृतप्रणयोऽयं जनः'।

शकुन्तलाके सौभाग्यसे ही दुष्यन्तने निष्ठुर भावसे उसका प्रत्याख्यान कर दिया था। अपने उस निष्ठुर आघातके अपने ही ऊपर आये हुए प्रत्यभिघातने दुष्यन्तको शकुन्तलाकी ओरसे विचालित नहीं होने दिया। दिनोंदिनके दुःखदाहसे पिघले हुए दुष्यन्तके हृदयमें शकुन्तला मिश्रित हो गई, उनके बाहर और भीतरको शकुन्तलाने ओत-प्रोत कर दिया। ऐसी अभिज्ञता राजाको अपने जीवनमें कभी उपलब्ध नहीं हुई थी; उन्हें यथार्थ प्रेमका उपाय और अवसर नहीं मिला था। राजा होनेहीके कारण वे इस सम्बन्धमें हतभागी थे। इच्छा होते ही वह अनायास पूरी हो जाती थी, इसीसे उन्हें साधनाकी सम्पत्ति नहीं मिली थी। इस बार विधाताने राजाको कठिन दुःखमें डालकर उन्हें प्रकृत प्रेमका अधिकारी बनाया; अब उनकी नागरिक-वृत्ति एकदम बन्द हो गई।

इस प्रकार कालिदासने पापको, हृदयके भीतर, अपनी ही आगसे आप ही दग्ध कर दिया है; बाहरसे उसे राखमें दबाकर नहीं रखा। अंतमें उन्होंने समस्त अमङ्गलोंको भस्म करके नाटक समाप्त किया है। अतः पाठकोंके मनमें एक संशयहीन और परिपूर्ण परिणामसे शान्ति छा जाती है। बाहरसे अचानक बीज पड़ जानेसे जो विष-वृक्ष तैयार हो जाता है, वह भीतरसे जब तक समूल नष्ट नहीं होता, तब तक उसका उच्छेद नहीं होता। कालिदासने दुष्यन्त और शकुन्तलाके बाह्य मिलनको कण्टकाकीर्ण मार्गमें ले जाकर आभ्यन्तरिक मिलनसे सार्थक कर दिया है। इसीसे कवि गेटेने कहा है कि तरुण वत्सरका फूल और परिणत वत्सरका फल, स्वर्ग और मर्त्य, यदि कोइ एक स्थानमें देखना चाहे, तो उसे शकुन्तलामें दिखलाई पड़ेगा।

टेम्पेस्टमें फर्डिनैण्डके प्रेमकी प्रॉस्पेरोने कठिन कष्ट-साधनासे परीक्षा कर ली है। किन्तु वह बाहरका क्लेश है। केवल कष्ट-भार उठानेसे हैं परीक्षाका अन्त नहीं हो जाता। आभ्यन्तरिक उत्ताप और दबावसे कोयला हीरा हो जाता है। कालिदासने इस बातको दिखलाया है। उन्होंने कोयलेकी कालिमाको उसके भीतरसे ही उज्ज्वल बना दिया है—उसकी भंगुरताको दबावके प्रयोगसे दृढता दान कर दी है। शकुन्तलामें हम अपराधकी सार्थकता देखते हैं। कालिदासके इस नाटकमें हम इस बातका पक्का प्रमाण पाते हैं कि संसारमें विधाताके विधानमें, पाप भी मङ्गल-कार्य संपन्न करनेमें—नियुक्त है। पापके अभिघातके विना मङ्गल अपनी शाश्वत दीप्ति और शान्तिको लाभ नहीं करता।

काव्यके आरम्भमें ही हम शकुन्तलाको एक निष्कलंक सौन्दर्य-लोकमें देखते हैं। वहाँ वह सरल आनन्दके साथ अपनी सखियों तथा

तरुलताओंमें मिली जुली है। उस स्वर्गमें छिपे छिपे पापने प्रवेश किया और वह स्वर्ग-सौन्दर्य कीटदष्ट कुसुमकी भाँति विशीर्ण और त्रस्त हो गया। इसके अनन्तर लज्जा, संशय, दुःख, विच्छेद और अनुताप हुए। और सबके अन्तमें विशुद्धतर, उन्नततर स्वर्ग-लोकमें क्षमा, प्रीति और शान्ति दिखलाई पड़ने लगी। इसी कारण शकुन्तला नाटक एक तरहसे Paradise Lost और Paradise Regained कहा जा सकता है।

पहला स्वर्ग बड़ा ही कोमल और अरक्षित था। यद्यपि वह सुन्दर और सम्पूर्ण था, तथापि पद्मपत्रके शिशिर-बिदुकी भाँति सद्यःपाती था। इस संकीर्ण सम्पूर्णताकी सुकुमारतासे छुटकारा पानेमें ही हमारी भलाई है। क्योंकि न तो वह स्थायी है और न उससे हमारी परिपूर्ण तृप्ति ही होती है। अपराधने मत्त गजकी भाँति आकर, पद्म-पत्रके बन्धन या घेरेको तोड़ दिया; आलोड़नके विक्षोभसे सारे चित्तको उन्मथित कर दिया। सहज स्वर्ग इस प्रकार सहज ही नष्ट हो गया। अब बाकी रह गया साधनाका स्वर्ग। अनुतापके द्वारा, तपस्याके द्वारा जब इस स्वर्गको जीत लिया, तब काई शंका बाकी नहीं रही। यही स्वर्ग शाश्वत—चिरस्थायी है।

इसी प्रकार मनुष्यका जीवन है। बालक जिस स्वर्गमें रहता है, वह सुन्दर है, सम्पूर्ण है, किन्तु क्षुद्र है। जीवनके सम्पूर्ण विकासके लिए मध्यमावस्थाके समस्त विक्षेप और विक्षोभ, सारे अपराधोंके आघात और अनुतापका दाह, आवश्यक हैं। शिशु-कालकी शान्तिसे बाहर होकर संसारके विरोध और विप्लवमें जब तक मनुष्य नहीं पड़ता, तब तक उसे परिणतावस्थाकी पूर्ण शान्तिकी आशा करना व्यर्थ है। प्रभा-तकी स्निग्धता जब मध्याह्नके तापसे दग्ध होती है, तभी सायंकालीन

लोक-लोकान्तरव्यापी विराम पैदा होता है। पाप और अपराधसे क्षण-भंगुरता नष्ट हो जाती है तथा अनुताप और वेदनासे चिरस्थायित। उपलब्ध होती है। शकुन्तला काव्यमें, कविने एक स्वर्गकी च्युतिसे दूसरे स्वर्गकी प्राप्तिपर्यन्त सब कुछ विवृत किया है।

विश्व-प्रकृति बाहरसे प्रशान्त सुन्दर मालूम होती है, पर उसकी प्रचण्ड शक्ति भीतर दिन रात काम किया करती है। उसका प्रतिरूप हम अभिज्ञान-शाकुन्तल नाटकमें देखते हैं। ऐसा आश्चर्यजनक संयम हम और किसी नाटकमें नहीं देख पाते। जहाँ प्रवृत्तियोंकी प्रबलता-प्रकाशका अवसर मिलता है, वहाँ यूरोपियन कवि अपनी सीमासे बाहर हो जाते हैं। प्रवृत्तियाँ कहाँ तक प्रबल और प्रचण्ड हो सकती हैं, इसीका अतिशयोक्तिपूर्ण वणन करनेमें उनकी यथेष्ट रुचि दिख पड़ती है। शेक्सपियरके रोमियो जूलियट आदि नाटकोंमें इसके अनेकानेक दृष्टान्त मिलते हैं। शकुन्तलाके समान ऐसा प्रशान्त-गम्भीर और ऐसा संयत-संपूर्ण नाटक शेक्सपियरकी नाटकावलीमें एक भी नहीं देख पड़ता। दुष्यन्त और शकुन्तलाका जो प्रेमालाप है, वह बहुत ही संक्षिप्त है। उसका अधिकांश, आभास और इंगितद्वारा ही व्यक्त हुआ है। कालिदास कहीं भी बहुत आगे नहीं बढ़ गये हैं। जहाँ अन्यान्य कवि अपनी लेखनीको सरपट दौड़ानेका अवसर ढूँढ़ा करते हैं, वहाँ कालिदासने अपनी लेखनीको रोक लिया है। दुष्यन्त तपोवनसे राजधानीको लौट गये। वहाँ जाकर उन्होंने शकुन्तलाकी कुछ खोज खबर नहीं ली। ऐसे अवसरपर विलाप-कलाप और परिताप-संतापके सम्बन्धमें बहुत कुछ लिखा जा सकता था, पर शकुन्तलाके मुखसे कविने एक भी बात नहीं कहलाई। केवल दुर्वासाके आतिथ्यके प्रति उसकी अनवधानतासे ही हम उस हतभागिनीकी अवस्थाकी कल्पना कर सकते हैं। जिस समय

शकुन्तला पति-गृहको जाने लगी, उस समय कण्वका एकान्त स्नेह कैसे कारुणिक, गम्भीर, संयत और परिमित शब्दोंमें प्रकाशित हुआ है! अनुसूया और प्रियंवदाकी सखी-विच्छेद-वेदना प्रतिक्षण दो चार शब्दोंमें ही सीमोल्लंघनकी चेष्टा कर रही है, पर भीतर ही भीतर तुरन्त दब जाती है। प्रत्याख्यानके समय भय, लज्जा, अभिमान, अनुनय, भर्त्सना, विलाप सभी कुछ है, पर कितने परिमित शब्दोंमें! जिस शकुन्तलाने सुखके समय, सरल भावसे संशय-रहित होकर, अपनेको भुला दिया था, दुःखके समय जब दारुण अपमान होने लगा, तब वही अपनी हृदय-वृत्तिकी अप्रगल्भ मर्यादाको इस प्रकार आश्चर्यजनक संयमसे रक्षित कर सकेगी, यह कौन सोच सकता था! इस प्रत्याख्यानके बादकी नीरवता कैसी व्यापक और कैसी गम्भीर है! कण्व नीरव, अनुसूया और प्रियंवदा नीरव, मालिनीतीरवर्ती तपोवन नीरव और सर्वापेक्षा नीरव रही शकुन्तला। हृदय-वृत्तिको आलोडित कर डालनेका ऐसा सुअवसर और किसी नाटकमें इस प्रकार नीरव भावसे उपेक्षित हुआ है? दुष्यन्तके अपराधको दुर्वासाके शापके आच्छादनसे आच्छादित कर रखना, यह भी कविका संयम ही है। दुष्ट-प्रवृत्तिकी दुर्दमनीयता स्पष्ट रूपसे—उच्छृङ्खल भावसे दिखानेका जो प्रलोभन है, उसका भी संवरण कविने किया है। उनकी काव्यलक्ष्मी उन्हें इस प्रकार निषेध करती है—

**न खलु न खलु बाणः सन्निपात्योऽयमस्मिन्।**
**मृदुनि मृगशरीरे तूलराशाविवाग्निः॥**

दुष्यन्त जब विपुल विक्षोभके कारण मत्त होकर काव्यके मध्यमें प्रवेश करता है, तब कविके अन्तरमें यह ध्वनि उठती है—

मूर्त्तो विघ्नस्तपस इव नो भिन्नसारङ्गयूथो।
धर्मारण्यं प्रविशति गजः स्यन्दनालोकभीतः॥

तपस्याके मूर्तिमान् विघ्नकी भाँति हाथी धर्मारण्य (तपोवन) में प्रवेश करता है; जान पड़ा, जैसे अब काव्यकी शान्ति भंग होती है। उसी समय कालिदासने धर्मारण्यके, काव्य-काननके, इस मूर्तिमान विघ्नको शापके बन्धनसे संयत किया और उसके द्वारा अपने कमल-काननको पंकसे आलोडित नहीं होने दिया।

यूरोपीय कवि यहाँ सांसारिक सत्यताकी नकल करते; अर्थात् संसारमें जैसा होता है वैसा ही दिखलाते। शाप या अलौकिक व्यापारसे कुछ भी नहीं छिपाते। मानों उनपर सारा दावा संसारहीका है, काव्यका कुछ नहीं। किन्तु कालिदासने काव्यापेक्षा संसारको अधिक महत्त्व नहीं दिया है। दिन-रात यत्र-तत्र जो कुछ होता है, उसकी नकल करनी ही होगी, ऐसी प्रतिज्ञा उन्होंने किसीसे नहीं की है। किन्तु काव्यका शासन कविको मानना ही पड़ेगा। काव्यकी प्रत्येक घटनाको काव्यके साथ संगत करना पड़ता है। उन्होंने सत्यकी आभ्यन्तरिक मूर्त्तिको अक्षुण्ण रखकर सत्यकी बाह्य मूर्त्तिको भी अपने काव्य-सौन्दर्यके साथ संगत कर दिया है। उन्होंने अनुताप और तपस्याको उज्ज्वल रूपसे दिखलाया है, किन्तु पापको तिरस्कारका परदा डालकर कुछ छिपाया है। शकुन्तला नाटक आदिसे लेकर अन्त तक शान्ति, सौन्दर्य और संयमसे आवृत है। ऐसा न होनेसे उसमें सुसंबद्ध भाव नहीं रहता; यद्यपि संसारकी ठीक नकल होती, परंतु काव्य-लक्ष्मीपर कुठाराघात हो जाता; महाकवि कालिदासकी करुणा-निपुण लेखनीसे यह कभी सम्भव नहीं था।

इस प्रकार कविने, बाहरी शान्ति और सुन्दरताको कहीं भी अत्यन्त

क्षुब्ध न करके, अपने काव्यकी आभ्यन्तरिक शक्तिको निस्तब्धताके भीतर सदा सबल और सक्रिय बना रक्खा है। यहाँ तक ही नहीं, उनके तपोवनकी बाहरी प्रकृतिने भी सर्वत्र आन्तरिक कार्योंमें योग दिया है। कभी तो उसने शकुन्तलाकी यौवन-लीलाको अपना लीला-माधुर्य्य अर्पण किया है; और कभी अपना कल्याण-मर्मर मंगल आशीर्वादके साथ मिश्रित किया है। कभी तो विच्छेदकालीन व्याकुलतासे, शकुन्तलाकी बिदाईके समय, अपनी मूक भाषाको करुणापूर्ण कर दिया है; और कभी अपने अपूर्व मन्त्र-बलसे शकुन्तलाके चरित्रमें एक प्रकारकी पवित्र निर्म्मलता—एक स्निग्ध माधुर्य्यकी किरणें व्याप्त कर दी हैं। इस शकुन्तला-काव्यमें निस्तब्धता यथेष्ट है, किन्तु सबकी अपेक्षा अधिक निस्तब्ध साथ ही व्यापक भावसे कविका तपोवन कार्य कर रहा है। वह टेम्पेस्टके एरियलकी भाँति शासनबद्ध दासत्वका बाहरी कार्य नहीं है—वह सौन्दर्य्यका कार्य है, प्रीतिका कार्य है, आत्मीयताका कार्य है और अभ्यन्तरका निगूढ़ कार्य है।

टेम्पेस्टमें भी शक्ति है और शकुन्तलामें भी। टेम्पेस्टमें बलके द्वारा विजय है और शकुन्तलामें मंगलके द्वारा सिद्धि। टेम्पेस्टकी समाप्ति असम्पूर्णतामें है और शकुन्तलाकी समाप्ति सम्पूर्णतामें। टेम्पेस्टमें मिराण्डा सरलता और मधुरताकी मूर्ति है, पर उस सरलताकी प्रतिष्ठा अज्ञता और अनभिज्ञताके ऊपर है। शकुन्तलाकी सरलता, अपराधमें, दुःखमें, अभिज्ञतामें, धैर्यमें और क्षमामें परिपक्व है, गम्भीर है और स्थायी है। गेटेकी समालोचनाका अनुकरण करके फिर भी हम कहते हैं कि शकुन्तलामें आरम्भिक तरुण सौन्दर्य्यने मंगलमय परम परिणतिमें सफलता लाभ करके मर्त्यको स्वर्गके साथ सम्मिलित कर दिया है।

# मेघदूत

रामगिरिसे हिमालय तकके, प्राचीन भारतवर्षके, जिस एक विशाल खण्डमेंसे होकर मेघदूतके मन्दाक्रान्ता छन्दोंमें जीवन-स्रोत प्रवाहित हो गया है, वहाँसे केवल वर्षाकाल ही निर्वासित नहीं हो गया है, बल्कि हम भी हमेशाके लिए निर्वासित हो गये हैं। वह दशार्ण जिसके उपवनमें केतकीके घेरे थे, वर्षाकालके पहले जिसके ग्राम-चैत्योंमें गृह-बलि खानेवाले पक्षी वृक्षोंपर घोंसले बनानेमें व्यस्त रहते थे, और जहाँ पके हुए फलोंसे लदे हुए जामुनके वृक्षोंसे बनोंके बाहरी भाग मेघके समान श्याम ही श्याम देख पड़ते थे, वह दशार्ण अब कहाँ है ? वे ग्रामवृद्ध, जो अवन्तीमें उदयन और वासवदत्ताकी कथा कहते थे, कहाँ हैं ? वह शिप्रातटवर्तिनी उज्जयिनी ही कहाँ है ? उसकी विपुला श्री और बहुल ऐश्वर्य अवश्य था; पर उसका विस्तृत विवरण हमें ज्ञात नहीं। महलोंके झरोखोंसे, नगर-ललनाओंके केश-संस्कारका, जो धूपका धुआँ निकलता था, हम तो केवल उसीकी कुछ कुछ गन्ध पाते हैं; और अँधेरी रातमें जब भवन-शिखरोंपर कपोत-कुल सोता था, तबकी विशाल जनपूर्ण नगरीके परित्यक्त पथ और प्रकाण्ड सुषुप्तिका मनमें कुछ कुछ अनुभव करते हैं। उस रुद्ध-द्वार और सुप्त-सौध राजधानीके अन्धकारपूर्ण पथमें कम्पित हृदयसे व्याकुल होकर जाती हुई अभिसारिणीकी कुछ कुछ छाया देख पड़ती है और इच्छा होती है कि कसौटीपर कनक-रेखाकी भाँति उसके चरण-कमलोंके निकट यदि कुछ आलोक किया जा सके, तो बड़ी अच्छी बात हो।

उस प्राचीन भरतखण्डके गिरि, नदी, नगरी आदिके नाम भी कैसे सुन्दर हैं ! अवन्ती, विदिशा, उज्जयिनी, रेवा, सिप्रा (क्षिप्रा), वेत्रवती। इन नामोंमें एक प्रकारका सौन्दर्य, शुभ्रता और संभ्रम है। माळूम होता है कि जैसे जैसे समय बदलता गया है वैसे वैसे उसकी भाषा, व्यवहार और मनोवृत्तिमें क्रमशः जीर्णता अपभ्रंशता पैठती गई है और आजकलका नामकरण भी वैसा ही हो गया है। मन कहता है कि रेवा, शिप्रा, निर्विन्ध्या नदियोंकी तटवर्तिनी अवन्ती या विदिशा नगरीमें प्रवेश करनेका यदि कोई पथ रहता, तो आजकलके इस कटु-कलरवसे रक्षा हो सकती ।

अतएव यक्षका जो मेघ, नगों, नदियों, नगरियोंके ऊपरसे उड़कर चला है, उसका सहचर पाठकोंकी विरह-कातरताका दीर्घ निःश्वास ही हुआ है। हम लोग कविके उस भारतवर्षसे अलग जा पड़े हैं, जहाँकी ग्राम-ललनाओंके प्रीति-स्निग्ध लोचनोंने भ्रू-विकार नहीं सीखा है, और पुर-बधुओंकी भ्रू-लताओंके विभ्रम-कुशल निविड पक्ष्मवाले कृष्ण नेत्रोंसे, भ्रमरपंक्तियोंके समान, कुतूहलकी दृष्टियाँ उत्क्षिप्त हुई हैं। इस समय कविके मेघके सिवा वहाँ और किसीको दूत बनाकर भेजना सम्भव नहीं है।

स्मरण होता है कि किसी अँगरेज कविने लिखा है—मनुष्य परस्पर-विछिन्न द्वीपोंके समान हैं। उनके बीचमें अपरिमेय अश्रुलवणाक्त समुद्र वर्तमान है। दूरसे जब हम एक दूसरेको देखते हैं, तब मनमें यह भासता है कि हम लोग किसी समय एक ही महादेशके रूपमें थे; किन्तु अब न माळूम किसके शापसे हमारे बीचमें विच्छेदका विलाप-समुद्र फेनिल होकर उमड़ पड़ा है। हम लोग इस समुद्र-वेष्टित क्षुद्र वर्तमानसे जब काव्य-वर्णित उस अतीत तटकी ओर देखते हैं, तब मनमें ऐसा भासता है कि उस शिप्रा-तीरके यूथिका-वनमें जो फूल

तोड़नेवाली स्त्रियाँ फूल तोड़ती थीं, अवन्तीमें वृद्धगण चबूतरोंपर बैठकर उदयनकी कथा कहते थे और आषाढ़के आरम्भमें मेघ देखकर जो प्रवासी अपनी अपनी प्यारी ललनाओंके विरहमें व्याकुल होते थे, उनके और हमारे बीचमें मेल रहना उचित था। हम लोगोंमें मनुष्यत्वका घनिष्ठ सम्बन्ध और कालका निष्ठुर व्यवधान है। कविकी कृपासे वह अतीत काल अमर-सौन्दर्यकी अलकापुरीमें परिणत हो गया है और हम लोग अपने विरह-विच्छिन्न इस वर्तमान मर्त्यलोकसे वहाँ कल्पनाका मेघदूत भेज रहे हैं।

किन्तु केवल अतीत या वर्त्तमानमें ही नहीं; प्रत्येक मनुष्यके बीचमें अतल-स्पर्श विरह है। हम लोग जिससे मिलना चाहते हैं, वह अपने मानस-सरोवरके अगम्य तीरपर निवास कर रहा है। वहाँ केवल कल्पना पहुँच सकती है। वहाँ सशरीर उपस्थित होनेका कोई मार्ग नहीं है। तुम कहाँ और हम कहाँ! बीचमें जो अनन्त वर्तमान है, उसे कौन पार कर सकता है! अनन्तके केन्द्रमें वर्तमान उस प्रियतम अविनश्वर मनुष्यका कौन साक्षात्कार कर सकता है! आज केवल भाषा-भावमें, आभास-इङ्गितमें, भूल-भ्रान्तिमें, आलोक-अन्धकारमें, देह-मनमें और जन्म-मृत्युके द्रुतगामी धारा-वेगमें उसकी कुछ कुछ वायु स्पन्दित होती है। यदि तुम्हारे निकटसे दक्षिण पवन मेरे पास पहुँचे, तो मेरे लिए वही बड़ा भारी सौभाग्य है। इससे अधिक, इस विरह-लोकमें, और क्या आशा की जा सकती है?

> **भित्वा सद्यःकिसलयपुटान्देवदारुद्रुमाणां**
> **ये तत्क्षीरस्रुतिसुरभयो दक्षिणेन प्रवृत्ताः।**
> **आलिङ्ग्यन्ते गुणवति मया ते तुषाराद्रिवाताः**
> **पूर्वं स्पृष्टं किल यदि भवेदङ्गमेभिस्तवेति॥**

इसी चिर-विरहका उल्लेखकर एक वैष्णव कविने गाया है—

**" दोनों मिलकर दोनों रोते, भावी विरह समझकर*। "**

हममेंसे प्रत्येक निर्जन गिरिशृङ्गपर अकेला खड़ा होकर उत्तरकी ओर देख रहा है। बीचमें आकाश, मेघ और सुन्दरी पृथ्वीके सुख-सौन्दर्य्य-भोग-ऐश्वर्य्यकी चित्रलेखाके स्वरूप, रेवा, शिप्रा, अवन्ती, उज्जयिनी वर्तमान हैं। ये सब मनमें स्मृति जगा देते हैं, पर पास नहीं पहुँचा देते; आकांक्षाका उद्रेक करते हैं, पर उसकी निवृत्ति नहीं करते। दो मनुष्योंके बीचमें इतना अन्तर !

किन्तु यह बात मनमें उठती है कि किसी समय हम लोग एक ही मानस-लोकमें थे, पर अब वहाँसे निर्वासित हो गये हैं। इसीसे एक कविने गाया है—" हृदय-पटलसे बरबस बाहर किया तुम्हें अब किसने ? " यह क्या हुआ ! जो मेरे मनोराज्यके व्यक्ति हैं, वह आज बाहर कैसे हुए ! वहाँ तो तुम्हारा स्थान नहीं है ! जो एक सर्वव्यापी मनके भीतर एक हो गये थे, वे सब आज बाहर हो गये हैं। इसीसे परस्पर एक दूसरेको देखकर चित्त स्थिर नहीं रहता; विरहसे विधुर और वासनासे व्याकुल हो उठता है। फिर भी हम हृदयमें, एक होनेकी चेष्टा करते हैं, परंतु बीचमें यह विशाल पृथिवी है।

हे निर्जन-गिरि-शिखरके विरही, स्वप्नमें जिसका आलिङ्गन करते हो, मेघके द्वारा जिसे संवाद भेजते हो, उससे तुम्हारा चिर-सङ्गम शारदीय पूर्णिमाकी रातमें होगा, ऐसा आश्वासन तुम्हें किसने दिया ? तुम्हें चेतनाचेतनका कुछ ज्ञान नहीं है। हो सकता है कि तुम सत्य और कल्पनाका भेद ही भूल गये हो।

* ' दुँहु कोले दुँहू काँदे विच्छेद भाविया। "

# कादम्बरी-चित्र

प्राचीन भारतवर्ष अनेक विषयोंमें असामान्य था, इसमें कुछ सन्देह नहीं। अन्यान्य देशोंमें सभ्यताकी सृष्टि नगरोंमें हुई है और हमारे देशमें जंगलोंमें। सर्वत्र ही वसन, भूषण और ऐश्वर्यका गौरव है, पर भारतवर्षमें विवसन, निराभरण और भिक्षाचारका गौरव है। अन्यान्य देश धर्म-विश्वासमें शास्त्रोंके अधीन हैं और आहार, विहार तथा आचारमें स्वाधीन; पर भारतवर्ष विश्वासमें स्वाधीन है और आहार विहार तथा आचारमें सर्वतोभावेन शास्त्राधीन। इस प्रकारके अनेक उदाहरणोंसे यह सिद्ध किया जा सकता है कि साधारण मानव-प्रकृतिकी अपेक्षा भारतीय प्रकृति अनेक विषयोंमें स्वतंत्र है। इसी असामान्यताका एक लक्षण यह भी स्पष्ट प्रतीत होता है कि पृथिवीकी प्रायः सारी जातियाँ कथा-कहानियाँ सुनना खूब पसन्द करती हैं, पर भारत-वर्षकी उत्सुकता इस विषयमें कुछ भी नहीं है। जितने देश अपनेको सभ्य कहलानेका दावा करते हैं, उनके साहित्यमें इतिहासों, जीवनियों और उपन्यासोंकी बड़ी भरमार है। पर भारतीय साहित्यमें ऐसा नहीं है। नाम मात्रके लिए ये भले ही हों, पर इनके लिए भारतका आग्रह लक्षित नहीं होता। वर्णन, तत्त्वविचार और अवान्तर प्रसङ्गोंसे कथा-प्रवाह भले ही पद पदपर स्खलित हो जाय, पर प्रशान्त भारत कभी अधीर होता नहीं दिखलाई पड़ा। ये प्रसङ्ग काव्यके अंग हैं या प्रक्षिप्त, इसकी आलोचना निष्फल है। क्योंकि प्रक्षिप्त विषयोंको अपना लेनेवाले यदि न रहते, तो प्रक्षेपोंको स्थान नहीं मिलता। पर्वत-शिखरसे बहनेवाली

नदीमें यद्यपि सेवार बहकर नहीं आता, तो भी यदि उस नदीका वेग क्षीण न हो, तो उसमें सेवार पैदा होनेका अवसर ही न आवे। भगवद्गीताके माहात्म्यको सभी मानते हैं; पर जब कुरुक्षेत्रके ऐसा घमासान युद्ध सिरपर हो, तब शान्त होकर समस्त भगवद्गीता सुनना भारतवर्षको छोड़ संसारके किसी देशमें सम्भव नहीं। हम इस बातको मानते हैं कि किष्किन्धा और सुन्दरकाण्डमें रोचकताकी कमी नहीं है, फिर भी जब राक्षस सीताको हरण करके ले गया, तब कथा-भागके ऊपर इन काण्डोंकी सृष्टि कर डालनेकी बात सहिष्णु भारतवर्ष ही सह सकता है; वही उसे क्षमाकी दृष्टिसे देख सकता है। वह उसे क्यों क्षमा करता है? इसका कारण यही है कि उसे कथाका अन्त भाग——परिणामांश सुननेकी उत्सुकता नहीं है। सोचते-विचारते, पूछते-जाँचते और इधर-उधर देखते-भालते भारतवर्ष सात प्रकाण्ड काण्ड और अठराह विशाल पर्वोंको शान्त चित्तसे धीरे धीरे श्रवण करनेको निरन्तर लालायित रहता है।

एक बात और है। कथा-प्रेमियोंकी प्रकृति भिन्न भिन्न होती है। छहों काण्डोंमें वेदना और आनन्दके बीच जो कथा ग्रथित की गई है, केवल उत्तरकाण्डमें उसे विना संकोचके छिन्न भिन्न कर देना क्या साधारण काम है? आदिसे लंकाकाण्डतक पढ़नेसे हमें यही विदित होता है कि अधर्मी, निष्ठुर और दुराचारी रावण ही सीताका परम शत्रु है। पर जब असाधारण शौर्य-वीर्य और अपरिमेय आयोजनद्वारा रावणके हाथसे सीताका उद्धार हुआ, तब हमारी सारी चिन्ताएँ दूर हुई और हम आनन्द मनानेके लिए प्रस्तुत हुए। इसी समय क्षण भरमें कविने यह दिखला दिया कि सीताके चरम शत्रु अधर्मी रावण नहीं, बल्कि धर्मात्मा राम हैं। सीताको निर्वासनमें उतने संकटोंका सामना

नहीं करना पड़ा, जितनोंका अपने राजाधिराज स्वामीके घरमें। सोनेकी पनसुही (नाव) बहुत दिनोंतक भयंकर तूफानोंका सामना करती हुई ज्यों ही घाटपर आ लगी, त्यों ही घाटके पत्थरसे टकराकर दो टुकड़े हो गई! कथापर जिसकी कुछ भी ममता होगी, वह क्या इस आकस्मिक उपद्रवको सह्य कर सकता है? कथा-भागकी अनेक प्रासंगिक और अप्रासंगिक बाधाओंको हम जिस वैराग्यके प्रभावसे सहते आये हैं, उसी वैराग्यसे हम कथाका यह आकस्मिक अपघात देखकर भी धीरज धरते हैं।

महाभारतमें भी यही बात है। स्वर्गारोहण पर्वमें ही कुरुक्षेत्रके युद्धको स्वर्गलाभ हो गया। कथाप्रिय व्यक्तियोंको जहाँ कथा-समाप्ति रुचिकर होती, वहाँ महाभारतकार नहीं रुके; इतनी बड़ी कहानीको धूलके बने घरकी भाँति वे एक क्षणमें छिन्न-भिन्न करके आगे बढ़ गये। जो संसारसे विरागी हैं और कथा-कहानियोंको उदासीन भावसे देखते हैं, उन्होंने ही इसके भीतरसे सत्यका अनुसन्धान किया; वे क्षुब्ध नहीं हुए। जो महाभारतको कहानीकी भाँति पढ़ते हैं, वे अपने मनमें सोचते हैं कि अर्जुनका पराक्रम अमोघ है। वे समझते हैं कि महाभारतकारने जिन अर्जुनके गुण-गानमें पेजके पेज रँग दिये हैं और जिनकी विजय-पताकाको आकाशतक फहरा दिया है, वे अर्जुन क्या सामान्य हैं? किन्तु कुरुक्षेत्रके समस्त युद्धोंके उपरान्त बातों ही बातोंमें एक स्थानपर एक दिन यह प्रकट हो गया कि लुटेरोंकी एक साधारण सी टोली कृष्णकी रमणियोंको अर्जुनकी निगरानीमेंसे उड़ा ले गई! महिलाएँ आर्त्तस्वरसे कृष्ण-सखा अर्जुनको पुकारकर विलाप करने लगीं; पर अर्जुन गाण्डीव धनुष न चढ़ा सके। अर्जुनकी ऐसी अभावनीय अवमानना महाभारत-कारकी कल्पनामें कभी आ सकती है, इसकी सम्भावना पिछले प्रकाण्ड

पर्वोंको पढ़नेवाला कभी नहीं कर सकता। किन्तु कवियोंकी ममता किसीपर भी नहीं है। जहाँके श्रोता वैरागी हैं, लौकिक शौर्य वीर्य या महत्त्वके अवश्यम्भावी परिणामका स्मरण कर उसमें आसक्त नहीं होते, वहाँके कवि भी निर्मम होते हैं और कथा भी केवल कुतूहलनिवृत्तिके लिए सब प्रकारके भारोंसे पीछा छुड़ाकर द्रुत वेगसे आगे नहीं दौड़ती।

इसके बाद, बहुत कालका व्यवधान होनेपर, कालिदासके काव्य-साहित्यसे साक्षात् होता है। इसके पहले भारतवर्षमें चित्त-रञ्जनकी क्या सामग्री थी, यह निश्चित रूपसे नहीं कहा जा सकता। उत्सवके दिनोंमें मिट्टीकी जो सुंदर दीपमाला रची जाती है, उसे कोई दूसरे दिन-के लिए नहीं उठा रखता। भारतवर्षमें उत्सवोंके दिनोंमें ऐसे ही अनेक मिट्टीके प्रदीप, क्षणिक साहित्य, रात्रिकालमें ही अपने जीवनकी शोभा दिखलाकर प्रातःकाल अनन्त विस्मृतिके गर्भमें डूबते रहे हैं। किन्तु धातुका जो पहला प्रज्वलित प्रदीप देखा गया, वह कालिदासका है। वह पैतृक प्रदीप आज भी हमारे घरोंमें अपना प्रकाश फैला रहा है। पहले वह हमारे उज्जयिनीवासी पितामहके प्रासाद-शिखरोंपर प्रज्वलित हुआ था। आज भी वह ज्योंका त्यों है; अब तक उसमें कोई कलंककी कालिमा नहीं लगी है। संस्कृत साहित्यमें, पहले पहल कालिदासने ही आनन्द-दानके उद्देश्यसे काव्य-रचना की है। ( यहाँ खण्डकाव्यकी ही बात कही जाती है, नाटककी नहीं। ) मेघदूत उसका एक दृष्टान्त है। मैं जहाँतक समझता हूँ, ऐसा दृष्टान्त संस्कृत-साहित्यमें, दूसरा नहीं है। पादांकदूत आदि जो कुछ हैं, वे सब मेघदूतके ही अनुकरण हैं और वे भी पौराणिक। यद्यपि कुमारसम्भव और रघुवंश भी पौराणिक हैं, पर ये पुराण नहीं, काव्य हैं। क्योंकि ये चित्त-विनोदके ही लिए लिखे गये हैं, इनके पढ़नेमें स्वर्ग-प्राप्तिका प्रलोभन नहीं है। भारतवर्षीय आर्य-साहित्यकी धर्म-

प्राणताके सम्बन्धमें जिसके जीमें जो आवे, भले ही कहे; पर मुझे आशा है कि कोई भी ऐसा उपदेश नहीं दे सकता कि तुम ऋतुसंहार पढ़ो, इससे तुम्हें मोक्ष मिलेगा।

किन्तु तो भी कालिदासका कुमारसम्भव कहानी नहीं है—उसमें जो कुछ है, वह सूत्ररूप, अत्यन्त सूक्ष्म और प्रच्छन्न है और सो भी असमाप्त। देवताओंका पिण्ड दैत्योंसे किसी प्रकार छूटा या नहीं छूटा, इस विषयमें कविकी कुछ भी उत्सुकता नहीं देख पड़ती; उनको भगानेवाला आदमी भी कोई नहीं है। उस समय शक-हूणरूपी शत्रुओंसे भारतवर्षका द्वन्द्व हो रहा था और स्वयं विक्रमादित्य उसके एक नायक थे। इससे ऐसी आशा की जा सकती है कि देव-दैत्योंका युद्ध और स्वर्गका पुनरुद्धार-प्रसंग उस समयके श्रोताओंको विशेष औत्सुक्यजनक प्रतीत होता होगा। परंतु देखते हैं कि राजसभाके श्रोतागण देवताओंके विपत्-पातकी ओर आँख उठाकर भी नहीं देखते। मदन-दहन, रति-विलाप, पार्वतीकी तपस्या, आदि किसी विषयमें भी कोई आतुरता प्रकट नहीं होती। मालूम होता है, जैसे सभी यह कह रहे हों कि कथाकी जरूरत नहीं है, वर्णन ही चलने दो। रघुवंश भी इसी प्रकारके विचित्र वर्णनका एक उपलक्ष्य मात्र है।

राजपरिषद्वर्ग यदि कथा-लोलुप होते, तो कालिदासकी लेखनीसे अंकित किये गये उस समयके अनेक चित्र आज हमारी आँखोंके सामने नाचते रहते। हाय! अवन्ती-राज्यमें नववर्षके दिन उदयन-कथा-कोविद ग्राम-वृद्ध जो जो कथायें कहते थे, वे सब क्या हुईं? सच्ची बात तो यह है कि गाँवके बूढ़े उस समय जो कथाएँ कहते थे, वे ग्राम्यभाषामें थीं। उस भाषामें जिन कवियोंने रचनाएँ की थीं, उन्होंने उस समयके लोगोंको यथेष्ट आनन्द दान किया था; पर वे कवि अमर नहीं हो सके। उनकी

रचनाओंमें कवित्व कम था, इस लिए उनका विनाश हो गया, ऐसी बात नहीं कही जा सकती। निस्सन्देह उनमें बड़े बड़े कवि-महाकवि हुए होंगे; किन्तु ग्राम्यभाषाका प्रधान क्षेत्र प्रान्त विशेष रहता है, उसकी ओर शिक्षितोंका ध्यान कम जाता है और उसमें निरन्तर परिवर्तन भी हुआ करता है। इस कारण उस भाषामें जिन्होंने रचना की, उन्हें स्थिर-भाषाका अवलम्बन नहीं मिला। इसमें कोई सन्देह नहीं है कि इस तरह बहुतेरे बड़े बड़े साहित्य-ग्रन्थ प्रवहमान कालके गहरे गर्त्तमें गिरकर गल-पच गये।

संस्कृत उस समय बोलनेकी भाषा नहीं थी, इसीसे भारतवर्षके समस्त हृदयकी सभी बातें उसमें न आ सकीं। अँग्रेजी अलङ्कारकी दृष्टिमें जिस श्रेणीकी कविता Lyrics (गीतिकाव्य) कही जाती है, वह मृत भाषामें हो ही नहीं सकती। कालिदासके विक्रमोर्वशी नाटकमें संस्कृतके जो गीत हैं, उनमें न तो गानेकी सरलता पाई जाती है और न मधुरता। यद्यपि बङ्गवासी जयदेव संस्कृत भाषामें गीत बना सके हैं, किन्तु बंगाली वैष्णव कवियोंकी बंगला पदावलियोंके साथ उनकी तुलना नहीं हो सकती।

मृत भाषामें तथा पराई भाषामें तो कहानी भी नहीं कही जा सकती। क्योंकि कहानीमें लघुता और गतिवेग आवश्यक हैं। यदि भाषाके कारण कहानीकी गति रुकती हो, भाषाका प्रवाह भावोंकी परवशतासे रुकता हो, तो ऐसी भाषामें कहानी लिखना और गीत बनाना सम्भव नहीं है।

कालिदासके काव्योंमें धारावाहिक गति नहीं है। उनका प्रत्येक श्लोक सम्पूर्ण और स्वतंत्र है। एक बार ठहरकर उसे पढ़ना और सोचना पड़ता है। जब उसका भाव हृदयङ्गम हो जाता है, तब दूसरे श्लोककी ओर दृष्टि जाती है। प्रत्येक श्लोक स्वतंत्र हीरक-खण्डकी

भाँति उज्ज्वल, और सारा काव्य हीरक-हारके समान सुन्दर देख पड़ता है। किन्तु नदीकी नांई न तो उसमें कलकल ध्वनि ही है और न अविच्छिन्न धाराप्रवाह ही।

इसके अतिरिक्त संस्कृत भाषामें ऐसा स्वर-वैचित्र्य, ध्वनि-गाम्भीर्य्य और ऐसा स्वाभाविक आकर्षण है कि उसकी योजना यदि सुचारु रूपसे हो, तो उससे नाना वाद्ययन्त्रोंकी ऐसी सम्मिलित संगीत-लहरी लहरा उठती है और उसकी अन्तर्निहित रागिनी ऐसी अनिर्वचनीय होती है कि कवि-पण्डित अपनी वाङ्निपुणतासे सहृदय श्रोताओंको सुनाकर मुग्ध करनेका प्रलोभन किसी प्रकार संवरण नहीं कर सकते। इसीसे जहाँ वाक्यावली संक्षिप्त कर विषयको द्रुत वेगसे बढ़ाना आवश्यक प्रतीत होता है, वहाँ भी भाषाका प्रलोभन संवरण करना उनके लिए दुस्साध्य हो जाता है और विषय पद-पदपर वाक्यावलीके भीतर प्रच्छन्न होता जाता है। विषयकी अपेक्षा वाक्यावली ही बहादुरी लूटना चाहती है और उसमें वह सफल भी हो जाती है। सुन्दरसे सुन्दर मोर-पंखियोंसे काफी हवा नहीं होती; तथापि वायुके उपलक्ष्य मात्रसे राज-दरबारकी शोभा बढ़ानेके लिए वे डुलाई जाती हैं। राजसभाके लोग काव्योंके घटना-घटाटोपसे उतने प्रसन्न नहीं होते जितने वाग्विस्तार, उपमा-कौशल और वर्णन-नैपुण्यसे पद-पदपर चमत्कृत होते हैं। यही कारण है कि संस्कृत काव्य विषय-विन्यासके लिए उतने लालायित नहीं देख पड़ते।

संस्कृत साहित्यमें गद्यके जो दो तीन उपन्यास हैं, उनमें सबसे अधिक प्रतिष्ठा कादम्बरीकी है। जैसे रमणियोंका आकर्षण अलंकारोंकी ओर अधिक होता है, वैसे ही पद्योंका भी होता है। स्वभावतः गद्यका साज-बाज कर्मक्षेत्रके उपयोगी होता है। गद्य लिखनेमें तर्क करना

पड़ता है, अनुसन्धान करना पड़ता है, इतिहास लिखना पड़ता है और विचित्र व्यवहारके लिए सदा प्रस्तुत रहना पड़ता है। इसी लिए गद्यका वेश सादा रहता है; उसके अङ्ग अनावृत्त रहते हैं। दुर्भाग्यवश संस्कृत गद्यका बोल-चालमें सर्वदा उपयोग नहीं हुआ, इसीसे उसके बाह्याडम्बरमें बड़ी बहुलता है। गद्दी-मसनदवाले मोटे ताजे बड़े बड़े सेठ-साहूकारों और विलासी बाबुओंकी भाँति उसका समास-बहुल विपुलायतन देखकर सहज ही बोध होता है कि वह व्यवहारोपयोगी भाषा नहीं है; बड़े बड़े भाष्यकारों और टीकाकारोंके कंधा लगाये बिना उसका भार वहन हो ही नहीं सकता। यह गद्य अचल भले ही हो, किन्तु किरीट, कुण्डल, कंकण और कण्ठमालाओंसे राजाकी भाँति उसकी शोभा दिन दूनी रात चौगुनी बढ़ती रहती है।

इसी लिए यद्यपि बाणभट्ट कथा ही लिखने बैठे थे, तथापि भाषाका विपुल गौरव नष्ट करके उन्होंने कथा-भागको कहीं भी आगे नहीं बढ़ाया। संस्कृत भाषाका उन्होंने अनुचरोंसे घिरे सम्राट्की भाँति प्रस्थान कराया है और कथाको पीछे पीछे प्रच्छन्न भावसे छत्रधरकी भाँति छोड़ दिया है। भाषाकी राज-मर्यादा बढ़ानेके लिए कथाका भी कुछ प्रयोजन है, इसीसे उसका आश्रय लिया गया है; नहीं तो उसकी ओर किसीकी भी दृष्टि नहीं है।

राजा शूद्रक कादम्बरीके नायक नहीं हैं। वे केवल उसके एक श्रोता हैं। यदि उनका परिचय संक्षिप्त रूपसे कराया जाता, तो भी कुछ क्षति न होती। यदि कथाका बहिर्भाग यथोचित छोटा न किया जाय, तो मूल आख्यानका परिमाण ठीक नहीं होता। हमारी दृष्टि-शक्तिकी भाँति कल्पना-शक्ति भी सीमाबद्ध है। हम किसी वस्तुको एक साथ ही समान भावसे नहीं देखते। सामनेका भाव बड़ा दिखलाई पड़ता है, अगल-

बगलका छोटा। पीछेका भाग दृष्टिगोचर ही नहीं होता; उसका अनुमान मात्र कर लिया जाता है। इसी लिए साहित्य-शिल्पी कवि अपने शिल्पके जिस अंशको प्रधान रूपसे दिखलाना चाहते हैं, उसको तो वे विशेष रूपसे सबके सामने रखते हैं और शेष अंशोंको वे अगल-बगल, पीछे—अनुमान क्षेत्रमें, रख छोड़ते हैं। किन्तु कादम्बरी-रचयिता छोटे-बड़े, मुख्य-गौण, सबको ही समान रूपमें रखनेके पक्षपाती दिखलाई पड़ते हैं। इससे कथामें चाहे किसी प्रकारकी त्रुटि ही क्यों न हो, मूल प्रसङ्ग भले ही पीछे क्यों न छूट जाय, इसकी चिन्ता न तो कविको ही है और न श्रोताओंको। इतना होनेपर भी कथांश छोड़ा नहीं जा सकता; क्योंकि वह बड़ा ही सुन्दर और बड़ा ही श्रुति-मधुर है। वह रचना-कौशल, माधुर्य्य, गाम्भीर्य, ध्वनि और प्रतिध्वनिसे परिपूर्ण है।

अतएव मेघमन्द्र-मृदङ्ग-ध्वनिकी भाँति कथाका प्रारम्भ हुआ—"आसीद् अशेषनरपतिशिरःसमभ्यार्चितशासनः पाकशासन इवापरः"—किन्तु हाय दुराशा! हम इस क्षुद्र प्रबन्धमें कादम्बरीके सारे पदोंको उद्धृत करके काव्य-रसकी आलोचना नहीं कर सकते। ऐसी हमारी शक्ति नहीं है। हम जिस समयमें उत्पन्न हुए हैं, वह बड़े ही झंझटका है। इस समय सारी बातोंको ज्योंका त्यों कहनेका प्रलोभन पद-पदपर दबाना होता है। कादम्बरी-कालमें कविने कथा-विस्तारके कौशलका अवलम्बन किया था और अब, हम लोक कथा-संक्षेपके कौशलकी शिक्षा ग्रहण करते हैं। उस समयके मनोरंजनके लिए जिस विद्याकी जरूरत थी, उससे ठीक उल्टी विद्याकी इस समयके मनोरंजनके लिए जरूरत है।

किन्तु इस समयके मधुलोभी रसिक यदि दूसरे कालका मधु संग्रह करना चाहते हैं, तो वे उसे इस समयके आँगनमें बैठे बैठे प्राप्त नहीं कर सकते। उसके लिए उनको उसी कालमें पैठना होगा। जो कादम्बरीका उपभोग करना चाहते हैं, उन्हें यह भूल जाना होगा कि आफिसका वक्त हो गया। उन्हें कल्पना करना चाहिए कि वे स्वयं वाक्यरसविलासी एक महाराज हैं, राजसभामें बैठे हैं और " समानवयोविद्यालङ्कारैः अखिलकलाकलापालोचनकठोरमतिभिः अतिप्रगल्भैः अग्राम्यपरिहासकुशलैः काव्यनाटकाख्यानाख्यायिकालेख्यव्याख्यानादिक्रियानिपुणैः विनयव्यवहारिभिः आत्मनःप्रतिविम्बैरिव राजपुत्रैः सह रममाणः" हैं। इस प्रकार प्रतिदिन रसिकोंके साथ रसचर्यामें निमग्न रहनेसे मनुष्य सुख-दुःखसे समाकुल, प्रयत्नशील, श्रम-जल-सिक्त और कर्म-निरत संसारसे अलग हो जाता है। खाना-पीना भूलकर जैसे पियक्कड़ शराबकी प्यालीपर प्याली चढ़ता जाता है, वैसे ही वह भी जीवनके कठिन अंशोंको छोड़कर भावके तरल रस-पानमें विह्वल रहता है। उस समय सत्यके स्वरूप और परिमाणकी ओर दृष्टि नहीं रहती। केवल यही मुँहसे निकलता है कि और ढालो, और ढालो, और ढालो। किन्तु आजकल हमारी दृष्टि मनुष्योंकी ओर विशेष रहती है। यह आदमी कौन है और क्या करता है, इस सम्बन्धमें हमारा कुतूहल सदा बना रहता है। इसी लिए घर बाहर और चारों ओर मनुष्यके क्रिया–कलापों और जीवन-वृत्तान्तोंकी सूक्ष्मसे सूक्ष्म आलोचना करके भी हमारी तृप्ति नहीं होती। किन्तु उस समय क्या पण्डित और क्या राजा, मनुष्योंको कुछ समझते ही नहीं थे। जान पड़ता है कि वे स्मृतिविहित नित्य-नैमित्तिक क्रिया-कलापों तथा एकान्त-स्थिर-भावसे शास्त्रालोचनाओंमें लवलीन रहते थे और संसारकी ओर आँख उठानेकी भी

उन्हें फुर्सत नहीं मिलती थी। विधि-विधान और नियम-संयमनके शासनके आगे मालूम होता है कि व्यक्तिगत-स्वातन्त्र्यका कुछ महत्त्व ही नहीं था। इसीसे रामायण और महाभारतके बादके संस्कृत-साहित्यमें जन-समुदायके चारित्र-चित्रण तथा संसार-वर्णनकी प्रधानता नहीं देखी जाती। भाव और रस, ये ही दो उनके प्रधान अवलम्ब हैं। रघुवंशमें रघुके दिग्विजयका बहुत ही सरस वर्णन है और उसमें उपमाओंकी भी भरमार है; पर रघुकी वीरताका कोई चरित्रगत चित्र चित्रित करनेकी चेष्टा नहीं देख पड़ती। इन्दुमतीकी घटनामें अज और इन्दुमती उप-लक्ष्य मात्र हैं। उसमें उनकी विशिष्ट व्यक्तिगत मूर्तिका भान नहीं होता; किन्तु परिणय, प्रणय और वियोग-शोकका एक साधारण भाव और रस उछला पड़ता है। कुमारसम्भवमें हर-पार्वतीके सहारे प्रेम, सौन्दर्य, उपमा, वर्णन आदिकी एक सरस धारा बह रही है। मनुष्य और संसारकी विशेषताकी ओर उस समयकी अपेक्षाकृत उदासीनताके कारण भाषा और वर्णनका ही साम्राज्य देख पड़ता है। उसमें मनुष्य और घटनाका प्रभाव प्रच्छन्न हो गया है। यदि केवल इसी बातका खयाल करके और आधुनिक कालकी विशेषता भूलकर कादम्बरीका रसास्वादन किया जाय, तो फिर आनन्दकी सीमा न रहेगी।

कल्पना कीजिए कि कोई गवैया "च–ल–त–रा–आ–आ–आ–आ–" की बार बार लम्बी तान छेड़ रहा है। सुननेवाले उस तानतरङ्गमें बह रहे हैं। गाना है–"चलत राजकुमारी" परन्तु तान ही तेजीसे चल रही है; राजकुमारीका चलना (गीतके पदका उच्चारण) नहीं होता। सहृदय श्रोता यही कहेंगे कि गीतकी गति भले ही न हो, पर तानकी गति बनी रहे; और यही चाहिए भी। परन्तु राजकुमारी कहाँ जाती है, यह बात जो जानना चाहते हैं, वे तानकी लहरसे

बौखला उठेंगे। पर यदि उस समय रसका उपभोग अभीष्ट हो, तो राजकुमारीके गम्य स्थानके निर्णयकी बात भूलकर तानका आनन्द लूट लो; क्योंकि जिस जगह आ पड़े हो वहाँ कुतूहलके वश अधीर होनेसे कुछ काम न निकलेगा। यह स्थान रसमें लोट-पोट होनेका है; अतएव स्निग्ध-जलद-गम्भीर स्वरसे राजा शूद्रकका वर्णन सुनना चाहिए। इस वर्णनमें हमें राजाके चरित्र-चित्रणकी प्रत्याशा नहीं है; क्योंकि चरित्र-चित्रणमें एक सीमा रहती है, इसमें सीमा नहीं है। कल्लोलमुखर समुद्रकी लहरकी भाँति जहाँ तक सम्भव है, भाषा उद्वेलित हो उठी है—सीमा पार कर गई है। किसीकी ऐसी शक्ति नहीं, जो उसमें बाधा पहुँचावे। यद्यपि सत्यके अनुरोधसे कहा जा सकता है कि शूद्रक विदिशा नगरीके राजा थे, तथापि अप्रतिहतगामिनी भाषा और भावके खयालसे यह कहना ही पड़ेगा कि वे 'चतुरुदधिमालामेखलायाः भुवो भर्त्ता' थे। शूद्रकका महत्त्व कितना था, इस व्यक्तिगत तुच्छ तथ्यालोचनाका यहाँ कुछ प्रयोजन नहीं है; किन्तु राजकीय महिमाका महत्त्व कितना हो सकता है, यहाँ यही बात यथोचित समारोहके साथ उद्घोषित होनी चाहिए।

सब जानते हैं कि भाव सत्यकी भाँति कृपण नहीं है। जो बालक सत्यके निकट काना है, वही भावके निकट कमल-लोचन हो जाता है। इसमें कुछ विचित्रता नहीं है। भावकी यही राजकीय महत्ता द्योतन करनेवाली सबसे अधिक योग्य भाषा संस्कृत ही है। कादम्बरीमें यही स्वभावविपुल संस्कृत भाषा, पूर्ण वर्षाकी नदीकी भाँति, इठलाती, इतराती, उछलती, चक्कर खाती, गरजती और लहराती हुई विचित्र गतिसे बही है।

कादम्बरीमें भाषा और भावका विस्तार होने पर भी उसका विशेष माहात्म्य इसीमें है कि उसके सब चित्र अलग अलग जगमगा रहे हैं।

सब मिलकर एकाकार नहीं हो गये हैं। कादम्बरीका प्रथम चित्र ही इसका प्रत्यक्ष प्रमाण है—

"उस समय भगवान् भास्करका यथेष्ट प्रकाश नहीं फैला था। नये कमलोंके पत्र-पुट कुछ कुछ खुल गये थे और उनकी अरुण आभा कुछ कुछ फैलती जा रही थी।"

यहींसे वर्णनका प्रारम्भ होता है। इस वर्णनका कोई विशेष उद्देश्य नहीं है; श्रोताओंके नेत्रोंमें एक कोमल रंगकी छटा छिटका देना और उनके सर्वाङ्गमें स्निग्ध सुगन्धका हल्कासा झोंका लगा देना ही इसका प्रयोजन है। "एकदा तु नातिदूरोदिते नवनलिनदलसम्पुटभिदि किञ्चिदुन्मुक्तपाटलिम्नि भगवति मरीचिमालिनि"—शब्दोंकी कैसी लड़ी है! अनुवाद करनेसे यही अर्थ होगा कि 'तरुण सूर्यका रंग कुछ लाल है' किन्तु भाषाके इन्द्रजालसे, केवल विशेष्य-विशेषणके विन्याससे, हृदयमें एक सुरम्य, सुगन्ध, सुवर्ण और सुशीतल प्रभातकाल तत्क्षण नाच उठता है। जैसा यह प्रभात कालका वर्णन है वैसा ही तपोवनमें सन्ध्या-समागमका वर्णन भी है। यथा—"दिवावसाने लोहिततारका तपोवनधेनुरिव कपिला परिवर्तमाना सन्ध्या," दिनान्तमें लाल लोचनवाली तपोवनकी गाय जैसे गोष्ठमें—गो-निवासमें लौट आती है, उसी प्रकार तपोवनमें कपिला सन्ध्या अवतीर्ण हुई। कपिला धेनुके साथ सन्ध्याकालीन रंगकी तुलना करते हुए, कवि, क्षण भरमें हृदयके भीतर सन्ध्याकी समस्त शान्ति, श्रान्ति तथा धूसर छाया भर देते हैं। प्रभात-वर्णनमें केवल तुलनाके छलसे उन्मुक्तप्राय नूतन कमल-संपुटके सुकोमल विकाशका आभास देकर मायावी चित्रकार (कवि) ने जिस प्रकार समस्त प्रभातकी सुकुमारता और सुस्निग्धताको पूर्णरूपेण व्यक्त कर दिया है, उसी प्रकार वर्णकी उपमाके छलसे तपोवनके गोष्ठमें फिरती हुई लाल

लोचनवाली कपिलवर्णा गौकी बात कहकर सन्ध्याका जो भाव है, उसे समस्त रूपसे स्पष्ट कर दिया है।

कादम्बरीकारकीसी वर्ण-सौन्दर्य-विकासकी क्षमता संस्कृतके और किसी कविमें नहीं देखी जाती। अन्य संस्कृत कवियोंने लाल रंगको लाल रंग ही कहकर अपना वक्तव्य समाप्त कर दिया है, पर कादम्बरीकारके लाल रंग कितने प्रकारके हैं, इसकी गिनती नहीं है। कोई लाल रंग लाक्षा-लोहित है, तो कोई पारावत—कबूतरके पद-तलके समान है और कोई रक्ताक्त सिंहके नखोंके समान। यथा--"एकदा तु प्रभातसन्ध्याराग-लोहिते गगनतले कमलिनी-मधु-रक्त-पक्षसंपुटे वृद्धहंसे इव मन्दाकिनी-पुलिनाद् अपरजलनिधितटं अवतरति चन्द्रमसि, परिणतरंकुरोमपाण्डुनि व्रजति विशालताम् आशाचक्रवाले, गजरुधिर-रक्तहरिसटालोमलोहिनीभिः आतप्तलाक्षिकतन्तुपाटलाभिः आयामिनीभिरशिशिरकिरणदीधितिभिः, पद्म-रागशलाकासम्मार्जिनीभिरिव समुत्सार्यमाणे गगनकुट्टिमकुसुमप्रकरे तारा-गणे।" एक दिन आकाश जब प्रभात-सन्ध्या-रागसे लाल हो गया, तब पद्ममधुद्वारा रक्तवर्ण हुए पंखोंसे शोभनेवाले वृद्ध हंसकी भाँति चन्द्रमा गंगातटसे पश्चिम समुद्रमें उतर रहा था, दिङ्मण्डलमें वृद्ध रंकु मृगके समान एक प्रकारकी पाण्डुता क्रमशः फैल रही थी, और गजरुधिररञ्जित सिंह-जटाके लोमोंके समान लाल तथा मन्दोष्ण लाक्षातन्तु-तुल्य सुदीर्घ, सूर्यकी किरणें पद्मराग मणिकी सम्मार्जनी ( झाड़ू ) सी बनकर गगनाङ्गणसे तारारूपी फूलोंको बुहार रही थीं—उन्हें दूर कर रही थीं।

रंगका विस्तार करनेमें न मालूम कविको कितना आनन्द मिलता है। इस काममें न तो उन्हें कुछ थकावट ही मालूम होती है और न उससे तृप्ति ही होती है। यह रंग केवल चित्रपटका ही रंग नहीं है, उसमें

कवित्वका रंग है, भावका रंग है। अर्थात् किस वस्तुका क्या रंग है, केवल यही वर्णन नहीं है, परन्तु उस रंगके वर्णनमें हृदयका अंश भी वर्तमान है। आगेके दृष्टान्तसे यह बात स्पष्ट हो जायगी—एक व्याध पेड़पर चढ़कर खोंतेसे ( घोंसलेसे ) पक्षियोंके बच्चोंको नीचे गिरा रहा है। उन उड़नेकी शक्तिसे शून्य बच्चोंका क्या रंग है? "कांश्चिदल्पदिवसजातान् गर्भच्छविपाटलान् शाल्मलिकुसुमशंकामुपजनयतः, कांश्चिदकोंपलसदृशान्, कांश्चिल्लोहितायमानचञ्चुकोटीन् ईषद्विघटितदलपुटपाटलमुखानां कमलमुकुलानां श्रियमुद्वहतः, कांश्चिदनवरतशिरःकम्पव्याजेन निवारयत इव, प्रतिकारासमर्थान् एकैकशः फलानीव तस्य वनस्पतेः शाखासन्धिभ्यः कोटराभ्यन्तरेभ्यश्च शुकशावकानग्रहीत्, अपगतासूंश्च कृत्वा क्षितावपातयत्।" कोई कोई तो थोड़े ही दिनोंके जनमे थे, जिनकी नवप्रसूत कमनीय पाटलकान्ति सेमरके फूलकी भाँति भासित होती थी; कोई कोई ऐसे थे जिनके नवल कमल-दलके से लाल लाल डैने निकल रहे थे; किसीका पद्मराग मणिका सा रंग था; किसी किसीकी लाल लाल चोंचोंके अग्रभाग कुछ खिले कमलके से जान पड़ते थे; किसी किसीके सिर इस प्रकार हिल रहे थे मानो वे व्याधको, अपने पकड़नेसे, मना करते हों; इस प्रकारके शुक-शावकोंको, जो प्रतिकार करनेमें सब प्रकार असमर्थ थे, डालोंकी सन्धियोंसे और पेड़की कोटरोंसे वृक्षके फलकी भाँति एक एक करके निकालकर और मार मारकर व्याध पृथ्वीपर गिराने लगा।

इसमें केवल वर्णविन्यास ही नहीं है बल्कि वर्णोंके साथ करुणाका भी संमिश्रण है। कविने स्पष्ट रूपसे 'हाय हाय' करके वर्णन नहीं किया है; बल्कि उसकी वर्णनगत तुलनाओंकी सुकुमारतासे वह करुणा आप ही आप फूटी पड़ती है।

किन्तु इस प्रकार उदाहरण देनेसे प्रबन्ध ही समाप्त न होगा; क्योंकि कादम्बरीमें प्रलोभनीय अंशोंकी बड़ी बहुलता है। इस कुञ्जवनकी गलीमें नये नये रंगोंके अनेक लता-वितान हैं। यदि कोई समालोचक मधुप इस कुंज-वनमें बैठकर मधुपानमें प्रवृत्त हो जाय, तो उसका गुञ्जन बन्द हो जायगा। वस्तुतः मेरी इच्छा समालोचना करनेकी नहीं थी, केवल प्रलोभनमें पड़कर इस ओर मुड़ गया था। मैंने सोचा था कि इस प्रबन्धके उपलक्ष्यसे कादम्बरीके सौन्दर्यकी समालोचना करके आनन्द लूट लूँगा; किन्तु कुछ ही दूर आगे बढ़नेपर समझमें आया कि यह मार्ग संक्षिप्त नहीं है। इस रसस्रोतमें अपनेको बहा देनेसे लक्ष्यकी ओर शीघ्र लौट पड़ना सम्भव नहीं है।

'प्रदीप' की वर्तमान संख्यामें जो चित्र प्रकाशित हुआ है, उसीपर कुछ लिखनेको मुझसे अनुरोध किया गया था। यह एक तैल चित्र है। विषय कादम्बरीपरसे लिया गया है और चित्रकार हैं हमारे स्नेह-भाजन तरुणवयस्क श्रीयुत यामिनीप्रकाश गंगोपाध्याय।

वह बात निश्चित है कि संस्कृत साहित्यमें चित्रांकनके विषयोंका अभाव नहीं है। किन्तु शिल्पविद्यालयोंमें हम लोगोंको अगत्या यूरोपीय चित्रोंका अनुकरण करके चित्र बनाने पड़ते हैं। इससे हमारे हाथ और मन विलायती चित्रोंके साँचेमें ढल जाते हैं; इससे बचनेका कोई उपाय भी नहीं है। उस अभ्यस्त मार्गसे मुड़कर देशी दृष्टिसे देशी चित्र-विषयोंको देखना हमारे लिए बड़ा कठिन है। यामिनीप्रकाशने-अल्प-वयमें ही उस कठिन व्रतको ग्रहण किया है और प्रथम चेष्टामें ही यथेष्ट सफलता प्राप्त की है। यही कारण है कि 'प्रदीप'के शिल्पानुरागी स्वत्वाधिकारीगण इस चित्रकी प्रतिकृति छापनेको प्रस्तुत हुए हैं और मुझे भूमिका लिखनेका भार दिया गया है।

चित्रमें कादम्बरीका जो प्रसङ्ग दिखलाया गया है, यदि उसीका अनुवाद संस्कृतसे बंगलामें कर दिया जाता, तो चित्रकी उपयुक्त भूमिका हो जाती। यह प्रसङ्ग कादम्बरीका ठीक प्रवेशद्वार है। आलोचना करते करते वहाँ तक पहुँच रहे थे, किन्तु लोभमें पड़कर इधर उधर भटक गये। अब फिर वहींपर लौटते हैं।

प्रातःकाल राजा शूद्रक सभामें बैठे हुए थे। इसी समय द्वारपालिका (प्रतीहारिणी) ने आकर हाथ जोड़ और घुटने टेककर निवेदन किया कि दक्षिणापथसे आई हुई एक चाण्डाल-कन्या हाथमें तोतेका पिंजड़ा लिये हुए कह रही है कि महाराज समुद्रके समान समस्त संसारके सारे रत्नोंके एकमात्र पात्र हैं। यह पक्षी भी परमाश्चर्यमय रत्न है, इससे इसे मैं महाराजके चरण-कमलोंमें भेंट चढ़ानेको ले आई हूँ। अतः महाराजकी दर्शनाभिलाषिणी हूँ।

पाठक यह न समझें कि द्वारपालिका संक्षेपमें इतना ही कहकर कविसे छुटकारा पा गई हो, अकृपणा कवि-प्रतिभाने उसपर भी कल्पनाकी यथेष्ट वृष्टि की है—"स्त्रीजनविरुद्ध, बांई बगलमें लटकती हुई किरिचसे वह द्वारपालिका सन्निहितविषधर चन्दन-लताकी भाँति भीषण और सुन्दर प्रतीत होती थी। शरत्-लक्ष्मीकी भाँति कलहंस-शुभ्र-वसना और विन्ध्य-वन-भूमिकी भाँति वेत्रलतावती थी। वह ऐसी मालूम होती थी, मानो मूर्तिमती राजाज्ञा ही हो अथवा शरीरधारिणी राज्याधिदेवता।

समीपवर्ती राजाओंके मुखकी ओर देखकर कुतूहलपरवश राजाने द्वारपालिकासे कहा—कोई हर्ज नहीं, उसको यहाँ ले आओ। तब द्वारपालिकाने चाण्डाल-कन्याको सभामें लाकर खड़ा कर दिया।

उस समय हजारों राजाओंके बीचमें राजा शूद्रक ऐसे शोभते थे जैसे वज्र-पात-भय--पुञ्जीभूत शैल-श्रेणीके बीच कनक-शिखरशाली सुमेरु

शोभित होता हो। अनेक रत्नाभरणोंके किरण-जालसे उनके अङ्ग-प्रत्यङ्ग प्रच्छन्न-से हो गये थे। इससे वे ऐसे शोभित थे जैसे सहस्र इन्द्रायुधोंसे आठों दिग्विभागोंको आच्छादित करके वर्षाकालका घन-गम्भीर दिवस विराजमान हो। वे ऐसे इन्दुकान्त मणिके पर्यङ्कपर बैठे हुए थे जिसके ऊपर स्वर्णशृंखलामें बँधे हुए चार मणि-दण्डोंके ऊपर मोतीकी झालर-वाला, अमल धवल, चँदोवा तना हुआ था। उनके दोनों ओर कनक-दण्डके चमर ढुलाए जा रहे थे। उनका बायाँ पैर पराभव-प्रणत शशिके समान स्फटिक-पादपीठपर रक्खा हुआ था। उनके अमृतफेनके समान उज्ज्वल लघु दुकूलके प्रान्तभागमें गोरोचनासे हंसोंकी जोड़ीका मनोहर चित्र अंकित था। अत्यन्त सुगन्धित चन्दनानुलेपनसे उनका विशाल वक्षस्थल धवलित हो रहा था, जिसके बीच बीचमें कुंकुम चर्चित था। इस कारण वे राजा ऐसे शोभते थे जैसे प्रातःकालीन रविकी स्थान स्थानपर पड़ी किरणोंसे अङ्कित कैलास-शिखर शोभायमान हो। दोनों भुजाओंमें धारण किये हुए इन्द्रनीलमणिके अङ्गदों—बाजूबंदोंसे, मालूम होता था कि मानो उन्होंने चञ्चला लक्ष्मीको बाँध रखा है। उनके कानोंमें धारण किये हुए कमल कुछ लटके हुए थे। मस्तकपर मनोहर मालती-माला थी, जो ऐसी मालूम होती थी जैसे उषःकालमें अस्ताचल-शिखरपर बिखरा हुआ तारापुञ्ज। उनके चारों ओर ललनाएँ सेवाके लिए दिग्वधुओंकी भाँति खड़ी थीं। उस समय द्वारपालिकाने राजाका मन अपनी ओर आकर्षित करनेके लिए रक्त-कमल-दलके समान सुकोमल हाथोंसे वेणुलता लेकर सभाके फ़र्शपर आघात किया। ताल-फल-पतनसे जैसे जंगली हाथियोंका झुण्ड सजग होकर देखने लगता है, वैसे ही राजागण अपना मुख फेरकर तत्क्षण उसी ओर देखने लगे।

उन्होंने देखा कि आर्य-वेषधारी और धवल-वसन एक वृद्ध चाण्डाल आ रहा है। उसके पीछे काकपक्षधारी एक बालक स्वर्ण-शलाका निर्मित पिंजड़ेमें एक पक्षी लिये आ रहा है और उसके पीछे निद्राकी नांई लोचनग्राहिणी तथा मूर्च्छाकी भाँति मनोहारिणी एक नवयौवना कन्या आ रही है। वह कन्या असुरगृहीत अमृतका अपहरण करनेके लिए कपटपटुविलासिनी-वेषधारी भगवान् हरिकी भाँति श्यामवर्ण थी और ऐसी मालूम होती थी मानों इन्द्रनीलमणिकी सञ्चारिणी पुतली हो। आगुल्फ-विलम्बित नील-कञ्चुकसे उसका सारा शरीर ढका हुआ था, जिसके ऊपर लाल ओढ़नी नील-कमल-वनके ऊपर पड़ी हुई सन्ध्याकी अरुणिमाकी भाँति फबती थी। उसके एक कानके ऊपर उदयोन्मुख-इन्दु-किरण-छटाकी भाँति केतकी पत्र शोभित हो रहा था और ललाटपर रक्त-चन्दनके तिलकसे वह किरातवेशिनी त्रिलोचना भवानीकी भाँति भासित हो रही थी।

हमने अपने समालोच्य चित्रके विषयका संक्षेपमें अनुवाद कर दिया। इस बातको हम साहसपूर्वक कह सकते हैं कि संस्कृत कवियोंमें बाण-भट्टकी भाँति चित्रांकनमें कोई निपुण नहीं हुआ। समस्त कादम्बरी-काव्य एक चित्रशाला है। साधारणतः लोग घटना-वर्णन करके कथा प्रारम्भ करते हैं, पर बाणभट्ट चित्र सजित करके कथा बढ़ाते हैं। इसीसे उनकी कथा गतिशील नहीं है, वह वर्णच्छटासे ही अङ्कित है। चित्र भी धारावाहिक रूपसे हों, सो नहीं। एक एक चित्रके चारों ओर कारुकार्यविशिष्ट और बहु-विस्तृत भाषारूपी सोनेके चौखटे जड़े हुए हैं। जिसने ऐसे फ्रेमसहित चित्रोंके सौन्दर्यका उपभोग नहीं किया, उसका दुर्भाग्य ही समझना चाहिए।

# काव्योंकी उपेक्षिताएँ

कविने अपने कल्पना-निर्झरका सारा करुण-जल केवल जनकनन्दिनीके पुण्याभिषेकमें ही समाप्त कर दिया। किन्तु वहीं एक ओर म्लानमुखी तथा संसारके सारे सुखोंसे वञ्चित जो राजवधू सीताके पास घूँघट डाले खड़ी हुई है, उसके चिर-संतप्त नम्र ललाटपर न जाने कविके कमण्डलुसे एक बूँद भी अभिषेकका जल क्यों नहीं पड़ा! हाय, अव्यक्त-वेदना देवी ऊर्म्मिला, एक बार तुम्हारा उदय प्रातःकालीन ताराकी भाँति महाकाव्यके सुमेरु-शिखरपर हुआ था। उसके बाद अरुणालोकमें तुम्हारे दर्शन नहीं हुए। कहाँ तुम्हारा उदयाचल है और कहाँ अस्ताचल, यह प्रश्न करना भी सब लोग भूल गये।

काव्य-संसारमें ऐसी एक दो स्त्रियाँ हैं जिनकी कवियोंने अत्यन्त उपेक्षा की है; परंतु तब भी वे अमरत्वके पदसे भ्रष्ट नहीं हुई। काव्योंमें वे अब भी अमर बनी हुई हैं। पक्षपात-कृपण काव्योंने उनके लिए स्थान-दानमें सङ्कोच किया, इसीसे पाठकोंके हृदय अग्रसर होकर उनके लिए आसन बिछा देते हैं।

किन्तु इन कविपरित्यक्ता ललनाओंमेंसे कौन किसको अपने हृदयमें आसन देगा, यह पाठकोंकी भिन्न भिन्न प्रकृति और अभिरुचिपर निर्भर है। हम कह सकते हैं कि संस्कृत साहित्यमें काव्य-यज्ञशालाकी प्रान्त-भूमिमें जो कितनी ही अनादृत स्त्रियाँ खड़ी हैं, उन सबमें प्रधान स्थान ऊर्म्मिलाका है।

इसका एक प्रधान कारण यह हो सकता है कि संस्कृत काव्योंमे ऐसा मधुर नाम कोई दूसरा नहीं है। नामको जो लोग केवल नाम

मात्र ही मानते हैं, मैं उनके दलमें शामिल नहीं हूँ। शेक्सपियरने कहा है कि गुलाबका भले ही और कोई दूसरा नाम रक्खा जाय, पर उसके माधुर्य्यमें न्यूनाधिक्य नहीं हो सकता। संभवतः गुलाबके सम्बन्धमें, यह बात घटित हो सके; क्योंकि गुलाबका माधुर्य्य संकीर्ण और सीमाबद्ध है। वह केवल कुछ स्पष्ट तथा प्रत्यक्ष गुणोंके उपर ही निर्भर करता है। किन्तु मनुष्यका माधुर्य्य सर्वांशमें इतना प्रत्यक्ष नहीं है। मनुष्यके माधुर्य्यमें ऐसे अनेक सूक्ष्म सुकुमार भाव हैं, जो अनिर्वचनीयताका उद्रेक करते हैं। यह माधुर्य्य इन्द्रियोंद्वारा गोचर नहीं है। कल्पनाद्वारा उसकी सृष्टि होती है। इस सृष्टि-कार्यमें नाम सहायता करते हैं। ख़याल कीजिए कि यदि द्रौपदीका नाम ऊर्मिला रख दिया जाता, तो उस पञ्च-वीर-पतिगर्विता क्षात्रिय-नारीका दीप्त-तेज इस तरुण कोमल नामसे पद पदपर खण्डित होता रहता।

अतएव इस नामके लिए हम वाल्मीकिके कृतज्ञ हैं। कविगुरु वाल्मीकिने ऊर्मिलाके प्रति अनेक अविचारके काम किये हैं, किन्तु यह एक सौभाग्यकी बात है कि उन्होंने ही इसका नाम माण्डवी अथवा श्रुतकीर्ति नहीं रक्खा। माण्डवी और श्रुतकीर्तिके सम्बन्धमें हम कुछ नहीं जानते और न हमें जाननेका कुतूहल ही होता है।

ऊर्मिलाको हमने जनकपुरकी विवाह-सभामें केवल वधू-वेशमें देखा है। उसके बाद जबसे वह रघुकुलके विशाल अन्तपुरमें पैठी, तबसे एक बार भी उसके दर्शन नहीं हुए। वह विवाह-सभावाली वधूवेशाकी मूर्त्ति ही हमारे हृदयमें अङ्कित रह गई। निर्वाक्, कुण्ठिता और निःशब्दचारिणी होकर वह सदा वधूकी वधू ही रह गई। भवभूतिके काव्यमें भी उसकी वही मूर्त्ति कुछ कालके लिए झलक गई है। सीताने कौतुकपूर्ण स्नेहके साथ केवल एक बार ऊर्मिलाकी ओर उँगली दिखाकर

अपने देवर लक्ष्मणसे पूछा कि, "वत्स, ये कौन हैं ?" लक्ष्मणने लज्जापूर्ण मन्द-मुसकानके साथ मन-ही-मन कहा कि अहा, आर्या (सीताजी) ऊर्म्मिलाके बारेमे पूछ रही हैं। बस, वे तत्क्षण संकुचित हो गये। इसके बाद रामचन्द्रकी इतनी विचित्र सुखदुःखकी चित्रावलीमें फिर कभी किसीकी कुतूहलकी उँगली इस मूर्त्तिके ऊपर नहीं पड़ी। क्योंकि वह केवल वधू ऊर्म्मिला थी।

जिस दिन ऊर्म्मिलाने अपने उज्ज्वल ललाटमें सिन्दूर-बिन्दु धारण किया था, वह उसी दिन जैसी नव-वधू सदा बनी रही। किन्तु जिस दिन रामराज्यभिषेकके मङ्गल-साधनोंका आयोजन करनेमें अन्तःपुरवासिनी ललनाएँ लगी हुई थीं, उस दिन क्या यह नववधू भी अपना घूँघट ऊपर उठाकर रघुकुल-लक्ष्मियोंके साथ प्रसन्न मुखसे मङ्गल-रचनामें अस्तव्यस्त नहीं थी ? और जिस दिन अयोध्यामें अँधेरा करके तपस्त्रियोंकासा वेश बनाये दोनों राजकिशोर सीताको साथ लेकर बनवासके लिए बाहर हुए, उस दिन वधू ऊर्म्मिला, राजप्रासादके किस एकान्त कक्षमें, वृन्त-च्युत कुसुम-कलिकाकी भाँति धूलमें लोट रही थी; यह क्या कोई जानता है ? उस दिनके उस विश्वव्यापी विलापके भीतर इस विदीर्यमाण, क्षुद्र तथा कोमल हृदयके असह्य शोकको किसने देखा था ? जो ऋषि-कवि क्रौञ्चविरहिणीके वैधव्य-दुःखको क्षण भर भी नहीं सह सके, उन्होंने भी उसकी ओर एक बार आँख नहीं उठाई।

लक्ष्मणने अपना अस्तित्व रामके लिए एक दम खो दिया था। यह गौरव-कथा भारतमें आज भी घर घर कही जाती है। किन्तु सीताके लिए ऊर्म्मिलाका अपना अस्तित्व खोना, केवल संसारमें ही नहीं, काव्यमें भी घोषित हो रहा है। लक्ष्मणने अपने दोनों देवता—सीता-रामके लिए केवल अपनेको ही उत्सर्ग किया; और ऊर्म्मिलाने अपनी अपेक्षा

भी अधिक अपने स्वामीको समर्पण किया। परन्तु काव्यमें यह कथा नहीं लिखी गई। सीताके आँसुओंके जलसे ऊर्म्मिला एकदम पुँछ गई।

लक्ष्मणने तो बारह वर्ष अपने उपास्य प्रियजनोंके प्रिय कार्य करनेमें बिताये; पर नारी-जीवनके ये श्रेष्ठ बारहों वर्ष ऊर्म्मिलाने कैसे बिताये? सलज्ज, नवप्रेमामोदित और विकासोन्मुख हृदय-मुकुल लेकर स्वामीके साथ ज्यों ही उसका प्रथमतम तथा मधुरतम परिचय आरम्भ हुआ, त्यों ही सीतादेवीके अरुण-चरणविक्षेपकी ओर नम्र दृष्टिसे देखते हुए, लक्ष्मण वनको चले गये। जब वे लौटे, तब क्या वधूके चिरन्तन प्रणयालोक-विरहित हृदयमें वह पहली नूतनता थी? पीछेसे सीताके दुःखके साथ उार्म्मिलाके दुःखकी कोई तुलना न करने लगे, क्या इसीसे कविने इस शोकोज्ज्वला महादुःखिनीको सीताके स्वर्णमन्दिरसे बाहर कर दिया—जानकीके पादपीठके पास भी उसे स्थान देनेका साहस न किया?

संस्कृत काव्योंमें दो तपस्विनियाँ और हैं, जो हृदयको तपोवन बनाकर उसमें वास करती हैं। वे हैं प्रियंवदा और अनुसूया। पतिगृह-गामिनी शकुन्तलाको बिदा करके वे रोती रोती लौट आंई। नाटकमें फिर उनका प्रवेश नहीं देखा गया—उन्होंने फिर हमारे हृदयोंमें ही आसन जमा लिया।

हम यह जानते हैं कि काव्यमें सबको समान अधिकार नहीं मिलता। कठिनहृदय कवि नायक-नायिकाके लिए अनेक अक्षय प्रतिमाएँ गढ़ते हैं और निर्म्मम हृदयसे उनका विसर्जन कर देते हैं। किन्तु जहाँ वे काव्यका प्रयोजन शेष समझकर उसे शेष कर देते हैं, क्या वहीं उसका यथार्थतः शेष हो जाता है? दोनों क्रोधोद्दीप्त शिष्य तथा हतबुद्धि रोरुद्यमाना गौतमीने जब तपोवनमें लौटकर दोनों उत्सुक तथा उत्कण्ठित सखियोंसे राजसभाका वृत्तान्त कहा, तब उनकी क्या दशा हुई—यह

बात शकुन्तला नाटकके लिए बिल्कुल ही अनावश्यक है, किन्तु क्या इसी लिए वह अकथित तथा अपरिमेय वेदना वहींपर शान्त हो गई ? क्या वह हमारे हृदयमें बिना छन्द और बिना भाषाके ही सदा जाग्रत नहीं रहने लगी ?

काव्य हीरेके टुकड़ेकी भाँति कठिन होते हैं। जब हम यह सोचते हैं कि प्रियंवदा और अनुसूया शकुन्तलाको कितनी प्यारी थीं, तब उस कण्व-कन्याके कठिन दुःखके समय उन सखियोंको अनावश्यक समझ एकदम छोड़ देना काव्यके लिए न्यायोचित तथा संगत हो सकता है; पर यह अत्यन्त निष्ठुरता है।

शकुन्तलाका सुख-सौन्दर्य तथा गौरव-गरिमा बढ़ानेके लिए ही ये दोनों सौन्दर्यकी पुतलियाँ उसे घेरे रहती थीं। तीनों सखियाँ जिस समय घड़े लेकर अकाल-कुसुमित नव-मालतीके पास आकर खड़ी हुई थीं, उस समय क्या दुष्यन्तने अकेली शकुन्तलाको ही प्यारकी दृष्टिसे देखा था ? उस समय हँसीसे, कौतुकसे और नवयौवनके चञ्चल-माधुर्य्यसे शकुन्तलाको किसने ‘ सम्पूर्ण ’ कर रक्खा था ? इन्हीं दोनों सखियोंने ही। अकेली शकुन्तला शकुन्तलाका तृतीयांश है। शकुन्तलाका अधिकांश अनुसूया और प्रियंवदा ही हैं, स्वयं शकुन्तला सर्वापेक्षा कम है। बारह आने प्रेमालाप उन्होंने मिलकर ही सुचारु-रूपसे सम्पन्न किया था। तृतीय अंकमें जहाँ एकाकिनी शकुन्तलाके साथ दुष्यन्तकी प्रेमाकुलताका वर्णन है, वहाँ तो कविकी प्रतिभा संकुचित सी हो गई है। उन्होंने किसी तरह जल्दीसे गौत-मीका प्रवेश कराकर अपनी मर्यादा बचाई है; क्योंकि शकुन्तलाको जिन्होंने परिपूर्ण कर रक्खा था, वे वहाँ नहीं थीं। दिनका सारा प्रखर आलोक वृन्तच्युत कुसुम सह्य नहीं कर सकता; वृन्तके बन्धन और पल्लवोंके थोड़े ही अन्तरालके बिना वह आलोक कुसुमके ऊपर कमनीय कोमल भावसे नहीं पड़ता। नाटकके इने गिने पात्रोंमें सखीविरहिता शकुन्तला

स्पष्टतः ऐसी असहाय, असम्पूर्ण और अनावृत भावसे दिखलाई पड़ती है कि उसे अच्छी तरह देखनेमें भी संकोच होता है। बीचमें गौतमीके आ जानेसे पाठकोंको मन ही मन कुछ तसल्ली हो जाती है।

मैं तो समझता हूँ कि राजसभामें जो दुष्यन्तने शकुन्तलाको न पहचाना, इसका कारण उसके साथ दोनों सखियोंका न होना ही है। एक तो तपोवनके बाहर, दूसरे खण्डिता—सखियोंसे रहित; इस अवस्थामें शकुन्तलाको पहचानना अवश्य ही कठिन हो सकता है।

शकुन्तला बिदा हो गई, इसके बाद जब सखियाँ शून्य तपोवनमें लौट आईं, तब क्या उन्हें अपनी शैशव-सहचरीके विरहका ही एक मात्र दुःख था? इस बीचमें शकुन्तलाके अभावको छोड़कर तपोवनमें क्या और कोई परिवर्तन नहीं हुआ था? हाय! उन सखियोंने ज्ञान-तरुका फल खा लिया है; जो बातें उन्हें अज्ञात थीं वे ज्ञात हो गई हैं। काव्यकी काल्पनिक नायिकाका विवरण पढ़कर नहीं किन्तु अपनी प्रियतमा सखीके विदीर्ण हृदयमें प्रवेश करके उन्होंने यह ज्ञान प्राप्त किया है। अब अपराह्णमें जब वे पेड़के थालेमें जल डालने लगेंगी, तब क्या अपनेको न भूल जायँगी? अब क्या वे बीच बीचमें पत्तोंकी खड़ाखड़ाहटसे चकित होकर अशोक-वृक्षके अन्तरालमें किसी छिपे हुए आगन्तुककी आशंका नहीं करेंगी? मृगशिशु क्या उनसे वैसा ही परिपूर्ण आदर पावेंगे?

उस मर्मर-रव-पूर्ण तपोवनमें सखी-भाव-निर्मुक्ता स्वतन्त्रा अनुसूया और प्रियंवदाको अब हम उनकी जीवन-कथाका सूत्र लेकर ढूँढ़ते हुए फिर रहे हैं। वे छाया तो हैं नहीं, शकुन्तलाके साथ साथ एक दिगन्तसे दूसरे दिगन्त तक जाकर अस्त तो वे हो ही नहीं गईं। वे जीती और मूर्तिमती हैं। निर्मित काव्यके बाहर, अनभिनीत नाट्यके नेपथ्यमें, इस

समय उनकी उम्र बढ़ गई है। अतिपिनिद्ध वल्कल भी अब उनके यौवनको बाँधकर नहीं रख सकता। इस समय नववर्षाकी प्रथम मेघ-मालाकी भाँति अन्तरके घनीभूत भावोंके आवेगने उनके कलहास्यके ऊपर अश्रु-गम्भीर छाया फैला रक्खी है। इस समय अतिथिगण आ आकर उन अन्यमनस्का सखियोंके उटज-प्राङ्गणसे लौट जाते हैं। हम भी वैसे ही लौट आये।

संस्कृत साहित्यमें एक और भी अनादृता है। उसके साथ पाठकोंका परिचय करानेमें हम कुण्ठित हो रहे हैं। वह कोई प्रधान पात्र नहीं है। वह 'कादम्बरी'-कथाकी पत्रलेखा है। जहाँ आकर उसने स्वल्प अधिकार पाया है, वहाँ उसके आनेका कोई भी प्रयोजन नहीं था। उसके लिए स्थान बड़ा ही संकीर्ण है; जरा भी इधर उधर पैर हुआ कि संकट उपस्थित है।

जिस प्रकारके सुकुमार सम्बन्धसे पत्रलेखा सम्बद्ध है, उस प्रकारका सम्बन्ध और किसी साहित्यमें नहीं देखा जाता। फिर भी कविने इस अपूर्व सम्बन्ध-बन्धनकी अवतारणा ऐसे अत्यन्त सहज भाव और सरल चित्तसे की है कि कहीं भी उसके लोमतन्तुपर झोंका नहीं आनेपाया है जिससे क्षण भरके लिए भी उसके छिन्न होनेकी आशंका हो।

जब युवराज चन्द्रापीड अपना अध्ययन समाप्त करके राजभवनमें लौट आये, तब एक दिन प्रातःकाल कैलास नामक कंचुकीने उनके घरमें प्रवेश किया। उसके पीछे एक नवयौवना कन्या थी। उसके सिरपर इन्द्रगोप कीटकी सी लाल साड़ीका घूँघट, ललाटपर चन्दन-तिलक और कटिमें सुवर्ण-मेखला थी। उसकी कोमल तनुलताकी प्रत्येक रेखा सद्यो-नूतन-अंकित सी जान पड़ती थी। वह तरुणी अपने लावण्य-प्रभा-प्रभा-

वसे भवनको भरती और अपने चरणोंके मणि-नुपूरोंको झनकाती हुई कंचुकीके साथ ही घरमें पैठी।

कञ्चुकीने प्रणाम करके और पृथ्वीतलमें अपना दाहिना हाथ रख-कर निवेदन किया—"कुमार, आपकी माता महादेवी विलासवतीने मेरे द्वारा यह संदेश भेजा है कि यह कन्या पराजित कुलुतेश्वरकी लड़की है, बन्दिनी होकर आई है; नाम पत्रलेखा है। मैंने इस अनाथा राज-कुमारीको अब तक पुत्रीसे बढ़कर पाला-पोसा है। इस समय इसे तुम्हारे पास ताम्बूलकरंकवाहिनी बनाकर भेजती हूँ। इसे सामान्य परिजनकी भाँति मत देखना। बालिकाकी भाँति लालन करके, अपनी चित्तवृत्तिकी नांई चञ्चलतासे बचाकर इसे शिष्यकी नांई देखना। सुहृत्की भाँति समस्त विश्वसनीय व्यापारोंमें इसे साथ रखना और इस कल्याणीको ऐसे कार्योंमें नियुक्त करना जिससे यह तुम्हारे अतिथियोंकी परिचारिका हो सके।" कैलासने ज्यों ही यह कहा, त्यों ही पत्रलेखाने भद्रकुलोचित रीतिसे उन्हें प्रणाम किया। चन्द्रापीडने उसे बहुत देर तक एकटक देखनेके बाद यह कहकर दूतको बिदा कर दिया कि माताने जैसा आदेश दिया है, वैसा ही होगा।

पत्रलेखा पत्नी नहीं है, प्रणयिनी नहीं है, किंकरी भी नहीं है, वह पुरुषकी सहचरी है। इस प्रकारका विचित्र सखीत्व दो समुद्रोंके बीच एक बालुकामय तटके तुल्य किस प्रकार रक्षित रह सकता है? नवयौवन कुमार-कुमारीके बीच अनादि कालका जो चिरकालीन प्रबल आकर्षण चला आता है, वह इस संकीर्ण बाँधको दोनों ओरसे तोड़ क्यों नहीं देगा?

किन्तु कविने उस अनाथा राजकन्याको इसी अप्रशस्त आश्रयमें रख छोड़ा है। तिल भर भी इस सीमासे उसे किसी दिन बाहर नहीं होने दिया। हतभागिनी बन्दिनीके प्रति कविकी इसकी अपेक्षा अधिक

उपेक्षा और क्या हो सकती है ? केवल एक सूक्ष्म यवनिकाका अन्तर रहने पर भी वह अपना स्वाभाविक स्थान ग्रहण न कर सकी। पुरुषके हृदयके समीप सदा जाग्रत रही, पर उसमें पैठ न सकी। किसी दिन असतर्क वसन्तकी हवासे इस सखीत्व भावके परदेका एक प्रान्त भी न उड़ा !

परन्तु सखी-भावमें लेशमात्र भी अन्तराल नहीं था। कवि लिखते हैं कि पत्रलेखा उसी प्रथम दिनसे चन्दापीडके दर्शन मात्रसे सेवा-रससमुपजातानन्द होकर बैठते उठते, घूमते फिरते छायाकी भाँति दिनरात राजपुत्रके पाससे नहीं हटी। जबसे उसे देखा, तभीसे, चन्द्रापीडकी प्रीति भी उसके प्रति प्रतिक्षण बढ़ने लगी। प्रति-दिन वे उसके प्रति अपनी प्रसन्नता प्रकट करने लगे और उन्होंने अपने समस्त विश्वसनीय कार्योंमें उसे अपने हृदयसे अलग न रक्खा।

यह सम्बन्ध अपूर्व मधुर है, पर इसमें नारीके अधिकारकी पूर्णता नहीं है। नारीके साथ नारीका जिस प्रकार लज्जाशून्य सखी-भाव रह सकता है, उस प्रकार पुरुषके साथ नारीका अनवच्छिन्न संकोचशून्य निकटभाव रहनेसे कादम्बरी-काव्यकी पत्रलेखाकी नारी-मर्यादाके प्रति जो एक प्रकारकी अवज्ञा झलकती है, वह क्या पाठकोंपर आघात नहीं करती ? किसका आघात ? आशंकाका नहीं, संशयका नहीं। क्योंकि कवि यदि आशंका और संशयका लेशमात्र भी स्थान रखते, तो हम समझते कि उन्होंने पत्रलेखाकी नारी-मर्यादाके प्रति कुछ सम्मान दिखलाया है। यह बात तो अलग रहे; इन दोनों तरुण-तरुणीमें लज्जा, आशंका और संदेहकी हिलती हुई स्निग्धच्छाया तक नहीं दिखलाई पड़ती। अपने अपूर्व सम्बन्धवश पत्रलेखाने अन्तःपुर तो त्याग ही दिया है; किन्तु स्त्री-पुरुषके परस्पर निकट होनेपर स्वभावतः एक प्रकारके संकोचसे, भयसे, यहाँ तक कि सहास्य छलसे जो अन्तःकर-

णवृत्ति आप ही आप लीलान्वित तथा कम्पमान होती है, इन दोनोंमें वह भी नहीं हुई। इसी हेतु इस अन्तःपुरविच्युता अन्तःपुरिकाके लिए सदा ही क्षोभ हुआ करता है।

चन्द्रापीडके साथ पत्रलेखाका निकट सम्बन्ध असामान्य ही है। दिग्विजय-यात्राके समय राजपुत्र एक ही हाथीपर पत्रलेखाको सामने बैठाकर आसन ग्रहण करते हैं। रात्रिके समय शिविरमें जब चन्द्रापीड अपनी शय्याके निकट सोये हुए अपने मित्र वैशम्पायनके साथ बातचीत करने लगते हैं, तब पत्रलेखा पास ही जमीनपर पड़ी हुई चटाईपर सो जाती है।

अन्तमें कादम्बरीके साथ जब चन्द्रापीड़का प्रणय हुआ, तब भी पत्रलेखा अपने क्षुद्र स्थानमें ज्योंकी त्यों बनी रही। क्योंकि नारी पुरुषके चित्तमें जहाँतक अपना आसन जमा सकती है, उसके संकीर्णसे संकीर्ण भागपर उसका अधिकार था। अतएव वहाँ जब महामहोत्सवके लिए स्थान बनाना पड़ा, तब भी उसे उसके अधिकृत क्षुद्र प्रान्तसे वञ्चित करना आवश्यक प्रतीत नहीं हुआ।

पत्रलेखाके प्रति कादम्बरीके मनमें ईर्ष्याका आभास मात्र भी नहीं था। यहाँ तक कि कादम्बरीको जब विदित हुआ कि चन्द्रापीड़के साथ पत्रलेखाकी घनिष्ठ प्रीति है, तब वह उसे परम प्यारी सखी समझने लगी। कादम्बरी-काव्यमें पत्रलेखा एक विचित्र भूखण्डकी रहनेवाली है, जहाँ ईर्ष्या, संशय, संकट, वेदना कुछ भी नहीं है। वह स्वर्गके समान निष्कण्टक है, पर उसमें स्वर्गका अमृतबिन्दु कहाँ है?

प्रेमका उच्छ्वसित अमृत-पान उसके सम्मुख ही हो रहा है। उसकी गन्धसे भी क्या किसी दिन उसकी किसी एक भी रगका रक्त चंचल नहीं हुआ! क्या वह चन्द्रापीड़की छाया है? राजपुत्रके उष्ण यौवनका

संताप भी क्या उसे स्पर्श नहीं कर सका ? कविने इस प्रश्नका उत्तर देनेकी भी उपेक्षा की है। काव्यसृष्टिमें पत्रलेखा इतनी उपेक्षिता है!

कुछ काल कादम्बरीके साथ रहकर पत्रलेखा जब संवाद लेकर चन्द्रापीडके पास लौट आई और जब उसने मन्द मुसकानके द्वारा दूरसे ही उनके प्रति प्रीति प्रकाश करके नमस्कार किया, तब पहलेसे तो स्वभावतः प्रियतमा थी ही, तिस पर जब कादम्बरीके पाससे प्रसाद-सौभाग्य पाकर आई, तो और भी परम प्रियतमा हुई। इस कारण उसका यथेष्ट समादर प्रकट करनेके लिए युवराजने आसनसे उठकर उसे आलिंगन किया।

चन्द्रापीडके इस आदर और आलिंगनद्वारा ही कविने पत्रलेखाका अनादर किया है। हम कहते हैं कि कवि अन्धे हैं। कादम्बरी और महाश्वेताकी ओर ही बराबर एकटक देखनेके कारण उनकी आँखें पथरा गई हैं। वे इस क्षुद्र बन्दिनीको देख ही नहीं सके। इसके भीतर प्रणय-तृषार्त और चिर-वंचित एक नारी-हृदय भी है, यह बात वे एकदम भूल गये हैं। बाणभट्टकी कल्पना सदा मुक्तहस्त रही, अस्थान और अपात्रमें भी उसने अपनी सम्पत्तिकी अजस्र वर्षा की है। केवल इस अनाथा बन्दिनीके प्रति ही उसने अपनी सारी कृपणता दिखलाई है। पक्षपाती और अन्धे होकर कवि पत्रलेखाके हृदयकी निगूढ़तम बातोंको बिल्कुल जानते ही नहीं। वे अपने मनमें समझते हैं कि समुद्र-वेलाको जहाँतक आनेकी आज्ञा है, वह वहीं तक आकर ठहर गई है; पूर्ण चन्द्रोदयमें भी वह हमारी आज्ञा उल्लंघन नहीं कर सकती। कादम्बरी पढ़कर मनमें यही भासित होता है कि अन्यान्य नायिकाओंकी बातें जहाँ अनावश्यक बाहुल्यके साथ वर्णित हुई हैं, वहाँ पत्रलेखाकी बातोंका कुछ भी वर्णन नहीं हुआ।

# रवि बाबूके अन्यान्य ग्रन्थ

**१ साहित्य**—इसमें १ साहित्यकी सामग्री, २ सौन्दर्यबोध, ३ साहित्यका तात्पर्य, ४ साहित्यके विचारक, ५ विश्वसाहित्य, ६ सौन्दर्य और साहित्य, ७ साहित्यसृष्टि, ८ ऐतिहासिक उपन्यास और ९ कवि जीवनी ये नौ निबन्ध हैं और प्रत्येक साहित्यप्रेमीके पढ़ने योग्य हैं। मू० ।।।), सजिल्दका १।)

**२ राजा और प्रजा**—इसमें राजनीतिसम्बन्धी सब मिलाकर ११ लेख हैं—१ अँगरेज और भारतवासी, २ राजनीतिके दो रुख, ३ अपमानका प्रतिकार, ४ सुविचारका अधिकार, ५ कण्ठरोध, ६ अत्युक्ति, ७ इम्पीरियलिज्म, ८ राजभक्ति, ९ बहुराजकता, १० पथ और पाथेय, ११ समस्या। हिन्दीके राजनीतिक साहित्यमें यह एक अपूर्व चीज है। मू० १), सजिल्दका १।।) रु०

**३ शिक्षा**—इसमें १ शिक्षा-समस्या, २ आवरण, ३ शिक्षाका हेरफेर, ४ शिक्षा-संस्कार और ५ छात्रोंसे संभाषण,—ये पाँच निबन्ध हैं। इन्हें पढ़कर पाठक जान सकेंगे कि हमारी वर्तमान शिक्षापद्धति कैसी है, स्वाभाविक शिक्षापद्धति कैसी होती है, कैसी शिक्षासे बुद्धिविकाश और चरित्र-विकाश होता है, अँगरेजी भाषाकी शिक्षासे हमारे बच्चोंकी क्या दुर्दशा होती है, और अब हमें कैसी शिक्षाका प्रचार करना चाहिए। मू० ।।=)

**४ स्वदेश**—१ नया और पुराना, २ नया वर्ष, ३ भारतका इतिहास, ४ पूर्वीय और पाश्चात्य सभ्यता, ५ ब्राह्मण, ६ समाजभेद, ७ देसी रजवाड़े और ८ धर्मबोधका दृष्टान्त, अपने देशका असली स्वरूप समझनेवालोंको, उसके अन्तःकरणतक प्रवेश करनेकी इच्छा रखनेवालोंको तथा पूर्व और पश्चिमका अन्तर हृदयंगम करनेके लिए उत्कण्ठित विद्वानोंको ये आठ निबन्ध अवश्य पढ़ने चाहिए। मू० ।।=), जिल्ददारका १=)

**५ आँखकी किरकिरी**—मूल लेखकके चित्र, चरित्र और ग्रन्थालोचनके सहित। हिन्दीमें तो क्या अँगरेजी फ्रेंच जैसी प्रौढ भाषाओंमें भी इसकी जोड़का कोई उपन्यास नहीं। मनुष्यके आन्तरिक भावचित्रोंका, उनके उत्थान

पतन और घात-प्रतिघातोंका इसमें बड़ा ही सुन्दर वर्णन है। ग्रन्थकारमें जो मनुष्य-स्वभावका गंभीर ज्ञान है और उस स्वभावके ज्योंके त्यों चित्र खड़े कर देनेका जो विलक्षण कौशल है, उससे यह उपन्यास बहुत ही मनोवेधक बन गया है। चौथी आवृत्ति। मू० १॥) राजसंस्करणका २॥),

**६ समाज**—इसमें आठ निबन्ध हैं—१ आचारका अत्याचार, २ समुद्र-यात्रा, ३ विलासकी फाँसी, ४ नकलका निकम्मापन, ५ प्राच्य और प्रतीच्य, ६ अयोग्य भक्ति, ७ पूर्व और पश्चिम, ८ चिट्ठी पत्री। ये सब निबन्ध ऐसे हैं कि इनकी उपयोगिता कभी नष्ट नहीं हो सकती। हिन्दीमें समाज-शास्त्रपर विचार करनेवाली यही एक गणणीय पुस्तक है। मू० ॥।=)

**७ मुक्तधारा**—कविवरका एक बिल्कुल नया नाटक। इसमें व्यक्तिगत, सामाजिक, राष्ट्रीय और अन्तराष्ट्रीय समस्याओंपर एक नये ही ढंगसे प्रकाश डाला गया है। इसका मुख्य पात्र बिल्कुल महात्मा गाँधीसे मिलता जुलता है। प्रारंभमें अनुवादककी ३२ पेजकी एक विद्वत्तापूर्ण भूमिका है, जिससे नाटकका अभिप्राय समझनेमें सहायता मिलती है। मू० ॥≶), सजिल्द १=)

**८ चिर-कुमार-सभा**—इस दो सौ पृष्ठोंसे ऊपरके प्रहसनमें कालेजके कुछ ऐसे जोशीले विद्यार्थियोंकी वाक्य-वीरताका खाका खींचा गया है, जिन्होंने चिरकाल तक ब्रह्मचारी रहकर देशसेवा करनेकी प्रतिज्ञा करके एक सभा स्थापित की है। ये अनुभवहीन छोकरे धीरे धीरे रूप और सौन्दर्यके जालमें किस तरह अपने आप फँसते गये हैं और अन्तमें अपनी चिरकुमार-सभाको किस तरह ले डूबे हैं, यही इसमें बतलाया गया है। पुस्तककी पंक्ति पंक्तिसे हँसी-दिल्लगी और व्यंग-कटाक्षोंके फव्वारे छूटते हैं। मूल्य० १।), राजसंस्करण २)

**नोट**—एक कार्ड लिखकर हमारी पुस्तकोंका बड़ा सूचीपत्र मँगा लीजिए।

संचालक—**हिन्दी ग्रन्थ-रत्नाकर कार्यालय,**
हीराबाग, गिरगाँव, बम्बई